प्राचीन भारत में पौरोहित्य

जशवीर सिंह मलि

ग्रंथ परिचय

इस ग्रंथ में ऋग्वेद काल से लेकर 1200 ई० तक पुरोहित प्रथा पर प्रकाश डाला गया है। ग्रंथ में पुरोहित प्रथा का उद्भव एवं विकास से लेकर 1200 ई० तक उसके कार्य, स्थान तथा महत्व पर प्रकाश डाला है। विभिन्न कालों में पुरोहित के महत्व एवं अधिकारो का विस्तृत वर्णन किया गया है। प्राचीन काल का पुरोहित एक साधारण पंडित न था, वरन् शासन का मुख्य पदाधिकारी था।

इस प्रकार पुरोहित के विभिन्न रूप एवं अधिकारों का विस्तृत वर्णन इस ग्रंथ में समाहित है।

लेखक परिचय

डा० जशवीर सिंह मलिक का जन्म 11 नवम्बर 1951 को क़िसाठ, जिला मुजफ्फरनगर में हुआ था। बी.ए. तक शिक्षा मेरठ विश्वविद्यालय से प्राप्त की तथा बी एड. परीक्षा, रीवा विश्वविद्यालय से प्राप्त की। शिक्षा के प्रति लगाव होने के कारण आपने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार से एम.ए., पी.एच.डी. की उपधि प्राप्त की तथा 1984 से गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार में सेवा प्रारम्भ की।
अध्ययन कार्य के साथ-साथ अपने 'आर्यों का शैलवाद' मासिक पत्रिका का सम्पादन कार्य भी किया तथा अनेक सामाजिक संस्थाओं का प्रतिनिधित्व किया। वर्तमान में बाल कल्याण शिक्षण एवं समाजसेवी संस्था, हरिद्वार, मलिक पर्यावरण, जनसंख्या एवं योग-शिक्षण संस्थान तथा आर्य सामाज, हरिद्वार के अध्यक्ष तथा जीवदया मंडल, हरिद्वार मानवाधिकार रक्षा समिति, उ०प्र० के उपाध्यक्ष पद पर सुशोभित हैं। इस समय आप प्रौढ़ सतत शिक्षा एवं प्रसार-विभाग गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार में वरिष्ठ परियोजना अधिकारी के पद पर कार्यरत हैं।

ISBN—81-7054-292-6 मूल्य रु० 350.00

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३०वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।
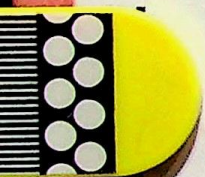
प्राचीन भारत में पौरोहित्य

प्राचीन भारत में पौरोहित्य

(प्रारम्भ से 1200 ई० तक)

डॉ० जे० एस० मलिक

क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी
नई दिल्ली

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के प्रकाशन अनुदान के अन्तर्गत गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार द्वारा प्रकाशित।

ISBN 81-7054-292-6

प्रथम संस्करण : 1999

प्रकाशक :
बी० के० तनेजा
क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी
28, शॉपिंग सेन्टर, करमपुरा,
नयी दिल्ली–110015

लेजर टाइप सेटिंग :
वर्धमान कम्प्यूटर
डी-II/208, सावित्री नगर,
नयी दिल्ली–110017

मूल्य : रु. 350.00

मुद्रक :
संजय प्रिंटर्स
मौजपुर, शहादरा
दिल्ली–110032

पुरोवाक्

पुरोहित प्राचीन काल से ही समाज में विशिष्ट स्थान रखता चला आया है। समय–समय पर पौरोहित्य प्रथा पर अनेक प्रहार होते आये हैं। लेकिन वर्तमान समय समाज में विभिन्न कर्मकाण्डो में पौरोहित्य कर्म की प्रधानता विद्यमान है। पुरोहित प्रथा के उद्‌भव के विषय में जिन तथ्यों का समावेश किया है उनमें पूजा तथा यज्ञीय कर्मकांड ही मुख्य रहें हैं। प्राचीन समाज में धार्मिक कर्मकांड को स्वयं करने के उदाहरण उपलब्ध हैं। निरुक्त के अनुसार राजकुमार देवापि द्वारा यज्ञ करने का उदाहरण मिलता है। कर्मकांड तथा यज्ञीय व्यवस्था के विस्तार के साथ–साथ इस संगठन की उत्पत्ति अनिवार्य रूप से हुई। यह संस्था यज्ञमान तथा ईश्वर के बीच की एक कड़ी परिलक्षित होती है।

वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत समाज में ब्राह्मणो का स्थान सर्वोपरि था। ब्राह्मण की उत्पत्ति विराट् पुरूष के मुख से मानी गयी है। ज्ञान एवं विद्वता की दृष्टि से ब्रह्मण समाज में सर्वोच्च था। धार्मिक कर्मकांड की अनिवार्यता ने ब्राह्मणो के कार्यो में वृद्धि की, जिससे ब्राह्मणो को वेद ज्ञानार्जन, पठन पाठन में कठिनाई का सामना करना पड़ा। धर्मपालन ब्राह्मणों का मुख्य दायित्व था। वस्तुतः धार्मिक कृत्यों में ब्राह्मणो की अनिवार्यता ने ही पुरोहित पद का सृजन किया।

धार्मिक कार्यो के अतिरिक्त प्रशासनिक कार्यो में भी पुरोहित का महत्व बढ गया था। राजा के दरबार या समाज में केवल धार्मिक कर्मकांड सम्पन्न करना ही उसका कर्तव्य न था बल्कि वह मन्त्री परिषद का सदस्य भी था।

"पुरोधाः प्रतिनिधिश्चैव प्रधानः सचिवस्तया।
मन्त्री च प्राड्‌विवाकश्च पण्डितश्च सुमन्त्रकः।।

शुक्रनीतिसार 2/70

पुरोहित मन्त्रीपरिषद का सदस्य ही न था अपितु उसकी शासन में नियुक्ति अनिवार्य बन गयी थी। उसनें राज पुरोहित का स्थान प्राप्त कर लिया जो राजा को निर्देश भी देता था। ऋग्वेद काल में सेनानी तथा ग्रामणी के

अतिरिक्त पुरोहित भी राजा का परामर्श दाता था। पुरोहित राजा के साथ युद्ध में जाता था। अपने याज्ञिक कर्मकांडों के द्वारा राजा व राष्ट्र की रक्षा करता था।

"विश्वामित्रस्य रक्षाति ब्रहमेदं भारतं जनम्।।"

ऋग्वेद 3/53/12

पुरोहित विश्वामित्र ने अपनै मंत्र तथा आध्यात्मिक शक्ति द्वारा भरत कुल की रक्षा की। इस प्रकार पुरोहित शान्तिक कार्यो से लेकर युद्ध तक राजा का साथी एवं रक्षक था। राजा पुरोहित का सम्मान उसी प्रकार करता है जैसे पुत्र पिता का तथा शिष्य गुरू का और सेवक स्वामी का आदर करता है।

तमाचार्य शिष्याः पितरं पुत्रो भृत्य स्वामिनभिव चानुवर्तेत।।

कौटिल्य अर्थशास्त्र 1/9/16

उत्तर वैदिक काल में कर्मकांड की जटिलता के कारण पुरोहित प्रथा का महत्व अधिक बढ़ गया। इस कारण से बड़े–बड़े यज्ञों का आयोजन सम्पन्नता एवं वैभव का प्रतीक बन गया। इन बड़े यज्ञों में अधिक समय लगता था कई यज्ञ तो वर्ष भर चलते थे। बड़े यज्ञों में पुरोहितो की संख्या बढ़ी पौरोहित्यों में भी कई वर्ग परिलक्षित होते है। 1. होता 2. उद्गाता 3. अध्वर्यु 4. ब्रह्मा तथा इनके सहायको की एक लम्बी पंक्ति हुआ करती थी। इस प्रकार उत्तर वैदिक काल में यज्ञों की ज़टिलता के साथ–साथ यज्ञविधान अधिक खर्चीले भी बन गये जिनका सम्पादन सम्पन्न व्यक्ति तथा राजा ही कराते थे।

महाकाव्यो से विदित होता है कि राजा का योग क्षेम पुरोहित के अधीन माना जाता था। ऐसी भी धारणा थी यदि पुरोहित कुपित हो गया तो समस्त राज्य का सर्वनाश कर सकता था। पूर्वमध्यकालीन इतिहासकार अलवरूनी ने लिखा है कि राजा तथा सामन्तो के धरों में सर्वदा एक ब्राह्मण नियुक्त रहता था। जो धर्म एवं पुण्य के कृत्य सम्पन्न करता था। उसे पुरोहित कहा जाता था। पूर्व मध्यकाल तक पुरोहित की स्थिति समाज में महत्वपूर्ण बनी रही। पुरोहित की महत्ता पर प्रकाश डालते हुये बेनीप्रसाद लिखते हैं कि शासन की योजना में महत्व तथा मान की दृष्टि से पुरोहित का स्थान किसी अन्य मन्त्री से नीचा न था।

इस प्रकार पौरोहित्य प्रथा प्राचीन काल में इतनी जड़े जमा चुकी थी कि आज तक सतत चली आ रही है। आज भी परिवारो में धार्मिक कृत्यों एवं संस्कारों का सम्पादन पुरोहित द्वारा ही सम्भव है।

पुरोहित प्रथा के महत्व एवं कार्यो का जो विवेचन उपलब्ध हुआ है वह भारतीय समाज में अक्षुण्य है। समाज के समस्त संस्कार एवं धार्मिक कर्म काण्ड के पुरोधा का प्राचीन काल में महत्व था तथा क्या कार्य थे? प्रशासनिक कार्यों में क्या राजा पुरोहित के निर्देशो का पालन करता था? क्या राजा पुरोहित के निर्देशो का उल्लंधन कर सकता था? समय समय पर पौरोहित्य प्रथा में आये परिवर्तनों एवं स्वरूपो के कारण समाज को क्या–क्या हानियाँ तथा लाभ रहे। अपनी सर्वोच्चता सिद्ध करने का कहीं यह ब्राह्मणो का योजनाबद्ध कार्य तो नहीं था? इस प्रकार अनेक प्रश्नो के समाधान हेतु मैने यह विषय चुना।

इस शोध प्रबन्ध के अध्ययन की सरलता के लिए उसे पांच अध्यायो में विभक्त किया गया। प्रथम अध्याय में वैदिक काल में पौरोहित्य प्रथा के उदभव एव विकास से लेकर समाज तथा प्रशासन में पुरोहित की स्थिति, वर्णो में सर्वोपरिता, कर्मकाण्डो की जटिलता के महत्व पर प्रकाश डाला गया। द्वितीय अध्याय में प्राङ्मोर्य युग में, महाकाव्य काल तथा सूत युगीन पुरोहित की स्थिति, कार्य एवं स्थान के विवेचन के साथ–साथ नवीन धार्मिक आन्दोलनो का ब्राह्मणधर्म की लोकप्रियता पर प्रतिकूल प्रभाव की समीक्षा की गयी। तृतीय अध्याय में मौर्य तथा मोर्योत्तर काल में पौरोहित्य प्रथा तथा वैदिक धर्म पुनरूत्थान पर प्रकाश डाला गया। चतुर्थ अध्याय में पूर्व मध्यकाल में पुरोहित का स्थान और उसके धार्मिक कार्य, राजवंशो में पौरोहित्य का प्रभाव, पुरोहितो को प्रचुर दान दक्षिणा तथा नीतिशास्त्रो में वर्णित पहुरोहित की स्थिति एवं महत्व का विवेचन किया गया। पचम अध्याय में उपसंहार है।

इस शोधप्रबन्ध में मुझे डा० श्याम नारायण सिंह जी का निर्देशन प्राप्त हुआ। इतने व्यस्त समय में से मुझे आपने जो समय दिया उसका मैं हृदय से आभारी हूँ। इस समय आपके पास अध्यापन कार्य के साथ उपकुलसचिव का पदभार भी था।

प्राचीन इतिहास विभाग के अध्यक्ष प्रो० बी० सी० सिंहा जी के सहयोग एवं निर्देशन हेतु उनका आभार व्यक्त करता हूं विभाग के अन्य प्राध्यापक डा० जबरसिंह सेंगर, डा० कश्मीर सिंह राही, तथा डा० राकेश कुमार के सहयोग हेतु उनका भी मै आभारी हूं।

इस शोध प्रवन्ध को पूर्ण करने में जिन विद्वानों का मुझे सहयोग एवं मार्ग निर्देशन मिला वे निम्न हैं–डा० कृष्ण कुमार पूर्व अध्यक्ष संस्कृत विभाग गढवाल विश्वविद्यालय श्रीनगर, आचार्य प्रियव्रत जी पूर्व उपकुलपति गु० कां० वि० वि०

हरिद्वार, स्व० आचार्य विश्व बन्धु शास्त्री पूर्व प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा उ०प्र०। आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार पूर्व आचार्य एवं उपकुल पति गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार। डा० भारतभूषण विद्यालंकार अध्यक्ष वेद विभाग गु० कां० वि० वि० हरिद्वार, डा० अनिल कुमार अध्यक्ष प्रौढ, सतत शिक्षा एवं विस्तार विभाग गु० का० वि० वि० हरिद्वार तथा आचार्य वेदप्रकाश श्रोतिय अध्यक्ष वेद प्रचार संस्थान दिल्ली।

मेरे सहयोगी डा० सुरेन्द्र कुमार त्यागी, श्री राजपाल सिंह चौहान, श्री महेन्द्र सिंह नेगी तथा पुस्तकालय अध्यक्ष व सहायको को भी आभार व्यक्त करना मैं अपना नैतिक दायित्व समझता हूं।

माननीय कुलपति जी डा० धर्मपाल व कुल सचिव प्रो० एस० एन सिंह गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय हरिद्वार ने पू० जी० सी० द्वारा प्रदत्त धन से इस ग्रन्थ को प्रकाशित कराने की जो स्वीकृति प्रदान की है उसके लिए मैं इनका आभारी हूं।

क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी के प्रबन्धक श्री बी० के० तनेजा का जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में निष्ठा व लगन से कार्य किया है। उनके प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूं।

अन्त में जिन लोगो ने भी इस कार्य हेतु प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मेरा सहयोग किया है। उनका मै हृदय से आभार व्यक्त करता हूं तथा आशा करता हूं कि इस ग्रन्थ में यदि कोई त्रुटि रह गयी हो तो आप क्षमा करेगे।

– डा० जे० एस० मलिक

भूमिका

प्राचीन काल से ही इस धरती का मानव जीवन धर्मगत उत्कण्ठा से अनुप्रणित रहा है। धर्म के व्यावहारिक स्वरूप के महत्व एवं कर्तव्यो के प्रति सजगता, नैतिकता आदि ऐसे आयाम है जिनके द्वारा मनुष्य लौकिक उत्कर्ष के साथ–साथ अध्यात्मिक उत्कर्ष की ओर अग्रसर होता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रत्येक भारतीय का जीवन ज्ञान कर्म, कर्मकांड से सिक्त होकर धर्म से उत्प्रेरित एवं गतिमान होता है। आवागमन (जीवन, मृत्यु) से छुटकारा पाने हेतु मनुष्य जिन धार्मिक व्यवस्थाओ का अनुपालन करने को तत्पर होता है वह ज्ञान संचलित, नैतिक आचरण एवं सत्कर्म की उत्प्रेरणा से ही सम्भव है।

ऋग्वेदिक समाज में आस्तिक विचार एवं धार्मिक चेतना का उल्लेख उपलब्ध होता है। समस्त समाज को विभिन्न वर्णो में विभाजित किया गया है। यह विभाजन नैतिक मूल्यों एवं कर्म पर आधारित था इसे 'वर्ण धर्म' की संज्ञा प्रदान की गयी। इसी प्रकार जीवन के उत्कर्ष के साथ आश्रम की व्यवस्था की गयी है। इसके द्वारा मनुष्य के जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया गया। इस व्यवस्था को 'आश्रम धर्म' के नाम से जाना गया। ये समस्त व्यवस्था धर्म से अभिप्रेरित थीं। इन धार्मिक व्यवस्थाओं में चार पुरूषार्थ धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की कल्पना की गयी है। इस व्यवस्था का मुख्य प्रेरक तत्व धर्म ही था, जिसमें ज्ञान एवं वौद्धिकता अधिकं थी। इन बौद्धिक एवं ज्ञान कर्म के सम्पादन की प्रक्रिया के ज्ञाता, धार्मिक कर्म काण्डो एवं ब्राह्मण काल में व्यवस्थाओं की स्थापना करने वाले वर्ग की उत्पत्ति हुई जिसे पुरोहित की संज्ञा प्रदान की गयी।

प्राचीन धर्मशास्त्रों में वर्णो की उत्पत्ति ईश्वर कृत अथवा दैविक मानी गयी है। ऋग्वेद के पुरूष सूक्त में वर्ण सम्बन्धी उत्पत्ति के विवरण को स्वीकार किया गया है। इन विवरणो से वर्णो की उत्पत्ति विराट पुरूष से हुई थी।

"ब्राह्मणोऽडस्य मुखामासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरूतदस्य यद् वैश्यः पदभ्यां शूद्रोअजायत।।"

ऋग्वेद 10/90/12

इस प्रकार ब्राह्मण की उत्पत्ति विराट पुरूष के मुख से मानी गयी इस दृष्टि से ब्राह्मण ज्ञान एवं विद्वता के क्षेत्र में सर्वोच्च बन गया। धर्म एवं कर्मकांड का ज्ञाता, वेदों में पारंगत समस्त विधाओं का मर्मज्ञ होने के कारण उसने समस्त कर्मकांड पर अपना अधिकार बना लिया। यज्ञ करना तथा यज्ञ कराना, दान लेना तथा दान देना, एवं शिक्षा प्राप्त करना तथा शिक्षा देना आदि कार्य प्रमुख थे। वस्तुतः धार्मिक कृत्यों में ब्राह्मणो की अनिवार्यता ने ही पुरोहित पद का सृजन किया है।

पौरोहित्य प्रथा के उद्‌भव के विषय में कई प्रकार की सम्भावनाएं व्यक्त की गयी हैं। पौरोहित्य व्यवस्था से पूर्ण सभी धार्मिक कृत्य यज्ञादि स्वयं ही सम्पन्न करते थे। निरूक्त के अनुसार राजकुमार देवापि के स्वयं यज्ञ करने का विवरण प्राप्त होता है। कार्य निर्धारण के पश्चात पुरोहित की उत्पत्ति की अवधारणा अधिक उचित प्रतीत होती है।

प्राचीन काल में धार्मिक कार्यो के अतिरिक्त पुरोहित का प्रशासनिक कार्यो में भी महत्व बढा। प्रशासनिक कार्यो में पुरोहित के महत्व के कारण पुरोहित की निपुष्टी प्रशासन में अनिवार्य बन गयी। पुरोहित अब पुरोहित न होकर राज पुरोहित बन गया। प्राचीन काल में पुरोहित का महत्व इतना बढ गया कि पुरोहित के अभाव में राजा द्वारा प्रदत्त हवनीय पदार्थ देवता स्वीकार नहीं करते थे।

"न वा अपुरोहितंस्य राज्ञो देवाः अन्नअदन्ति तस्माद्राजा यक्ष्यमाणो ब्राह्मणं पुरोदपुरोदधीत देवा मे अन्नम् अदन्निति"

(ऐतरेय ब्राह्मण, अध्याय 40, खण्ड 2)

उत्तर वैदिक काल में कर्मकांड की जटिलता के कारण पुरोहित प्रथा को अलौकिक रूप प्रदान किया गया इनकी गणना देव तुल्य की गयी। पुरोहित पद अब राजा से नीचा न रह गया था वरन यह पद सर्वोपरि बन गया राजा की निपुक्ति में राज पुरोहित भी एक था। प्रशासनिक कार्यो में राजा पुरोहित के निर्देशो का पालन करता था। पुरोहित को राजा तथा राष्ट्र का रक्षक बताया गया।

"पुरोधा प्रथमं श्रेष्ठः सर्वेभ्यो राजराष्ट्रभृतः"

शुक्रनीतिसार 2/74

महाकाव्यो से भी विदित होता है कि राजा का योग क्षेम पुरोहित के अधीन था। कालान्तर में भी पुरोहित का स्थान राजा की मन्त्रीपरिषद से लेकर

धर्मगुरू तक बना रहा है। पुरोहित के महत्व एवं कार्यो पर जो शोघ कार्य डा० जशवीर सिंह मलिक ने किया है उसमें वैदिक साहित्य के साथ–साथ ऐतिहासिक तथ्यों का सुन्दर विवेचन है। ब्राह्मणो पर काफी कार्य हुआ है लेकिन पुरोहित प्रथा पर अपना शोध ग्रन्थ लिखाकर इस अभाव की प्रांसगिक एवं प्रमाणिक पूर्ति की है। पुरोहित प्रथा का उद्भव एवं विकास, प्राङ् मौर्य युग में पौरोहित्य, मौर्य तथा मौर्योत्तर काल में पौरोहित्य, पूर्वमध्यकाल (600 ई से 1200 ई तक) में पोरोहित्य प्रथा का प्रमाणिक विवेचन किया गया है। ऋग्वेद से लेकर उत्तरवैदिक काल में पुरोहित का महत्व एवं कार्यो का सुन्दर विवेचन किया गया है। लेखक ने क्षत्रीय और ब्राह्मण के अधिकारों को लेकर जो द्वन्द शास्त्रों में वर्णित हैं उनसे बचते हुये पुरोहित प्रथा का एक सच्चे शोधार्थी की तरह विषय का निष्पक्ष एवं तटस्थ प्रतिपादन किया है। ग्रन्थ में पुरोहित, राजा एवं प्रजा के सम्बन्धो के विषय में धर्म एवं कर्मकांड का विवरण समाज की दिशा का बोध कराता है। पुरोहित की उत्पत्ति से लेकर कार्य तथा महत्व के बारे में जो भ्रान्तियाँ थी उनका निराकरण एवं सही मार्ग निर्देशन इस ग्रन्थ द्वारा ज्ञात होता है। इस इस ग्रन्थ को पढ़कर मुझे प्रसन्नता हुई। मै इस उत्तम रचना एवं शोध के लिए उन्हे साधुवाद देता हूं। वर्तमान युग का पुरोहित वेदच्युत हो रहा है ब्राह्मण वर्ग भी आर्थिक युग की काली छाया से अपने को अलग रखने में असमर्थ हो रहा है। 'विराट पुरूष' के मुख से उत्पत्ति वाला ब्राह्मण अब नही रह गया है। अब पौरोहित्य का शासन एवं धर्म में गरिमा युक्त स्थान न रह कर उदरपूर्ति का कार्य मात्र बन गया है।

लेखक ने वर्तमान स्थिति का अवलोकन कर ही सम्भवतः प्राचीन भारत में पौरोहित्य प्रथा पर यह कार्य किया जो समाजं तथा राष्ट्र के लिए उपयोगी साक्ष्य बन सकेगा। मै आशा करता हूं कि डा० जशवीर सिंह मलिक आगे भी अनवरत रूप के शोधकार्य एवं अध्ययन करते रहेंगे।

शुभ कामनाओं के साथ

आचार्य प्रो० भारतभूषण विद्यालंकार
निदेशक,
श्रद्धानन्द वैदिक शोध अनुसन्धान एवं प्रकाशन केन्द्र
गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार-249404

14.-04-98

अनुक्रमणिका

1

पौरोहित्य प्रथा का उद्भव एवं विकास

प्राचीन काल से ही भारतीयों का जीवन धर्म प्रेरक रहा है, धर्म ही भारतीय संस्कृति का मूलधार है। जिसके अर्न्तगत नैतिकता, आदर्शवादिता तथा समर्पण की भावना निहित थी। सम्पूर्ण देश की संस्कृति धर्म प्रधान रही है। जन्म से लेकर मृत्यु तक भारतीयों की मान्यतायें पाप–पुण्य की विवेचना, देवोपसाना, ईश्वर का एक रूप, पुनर्जन्म, आस्तिक–नास्तिक, स्वर्ग–नर्क, मोक्ष, लोक–परलोक, धर्म–अधर्म आदि सभी धर्म से अभिप्रेरित हैं। सभी कर्म–धर्म से उत्प्रेरित होकर गतिमान बने है। जिसके द्वारा व्यक्ति लौकिक उत्कर्ष के साथ–साथ आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होता है। धर्मानुसार उसके सारे कर्तव्य, कर्म ज्ञान–समन्वित श्रद्धा सिक्त होते हैं। ऐसी परिस्थितियों में नैतिक आचरण से प्रभावित सत कर्म के द्वारा प्रेरणा प्राप्त कर सारी मान्यताओं ने मनुष्य की धार्मिकता को प्रकट किया है। मान्यताओं, आयामो तथा स्थापनाओं का ज्ञान होता था वही धर्म था, जिसके अनुरूप मनुष्य कार्य करता था।

ऋग्वेद काल से ही आस्तिक विचार एंव धार्मिक चेतना से यहां की संस्कृति जुड़ी थी। वेद, भारतीय धर्म, दर्शन, आध्यात्म और संस्कृति की आधारशिला है। डा० राधाकृष्ण का मत है– किसी भी भारतीय विचार धारा की ठीक व्याख्या के लिए ऋग्वेद के सूत्रों का अध्ययन अनिवार्य रूप से आवश्यक है[1]।

ऋग्वेद के अध्ययन से धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक ऐतिहासिक, राजनीतिक आर्थिक, दार्शनिक सभी दृष्टियों से आवश्यक विषयों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यज्ञों का महत्त्व, ईश्वर भक्ति, प्रकृति पूजा, देव पूजा, आदि का वेद सम्यक ज्ञान का भण्डार है। जिसमें देवों की स्तुति का प्रावधान है। सम्पूर्ण समाज का समुचित और सुनिश्चित वर्ण विभाजन किया गया है, जो कि नैतिक मूल्य तथा धर्म से अनुप्राणित था, तथा उसे "वर्ण धर्म" की संज्ञा प्रदान की गयी। मनुष्य के जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया जिसे आश्रम धर्म स्वीकार किया है। इस प्रकार हम प्राचीन सामाजिक व्यवस्था का मुख्य प्रेरक धर्म को मानते हैं। इसी के द्वारा दार्शनिक चेतना का अविर्भाव हुआ जो मानव के आध्यात्मिक जीवन को समुन्नत करने का माध्यम बना। दार्शनिक चिन्तन का प्रारम्भ वैदिक काल से हुआ[2] है। धार्मिक कृत्य, पूजा पाठ, यज्ञ आदि सम्पन्न कराने वाले वर्ग का उदय हुआ, जिसके द्वारा समस्त धार्मिक

आचार–विचारों तथा सिद्धांतों की व्यवस्था की गयी। इस प्रकार का समस्त चिंतन ब्राह्मण नामक वर्ग में ही पनपा तथा बढ़ा[1]। क्योंकि ये यज्ञ में ब्रह्मारूप में कार्य करते थे इस लिए ऐसा माना गया कि यज्ञकर्त्ता ब्राह्मण ही थे।

पूर्व ऋग्वेद काल में ऐसा प्रतीत नहीं होता कि वर्ण व्यवस्था जैसी कोई संस्था रही होगी लेकिन इतना अवश्य है कि उस युग में समाज दो भागों में विभक्त था–

1— आर्य

2— अनार्य अथवा दास

समाज आर्य तथा अनार्य वर्गों के आधार पर चल रहा था। इन दोनों समुदायों में आपसी संघर्ष का विवरण हमें ऋग्वेद से प्राप्त होता है। जिसमें कहा गया है। हे आर्य वे मानव नहीं है उनका वध कर डालो।[2] दास समुदाय को नष्ट कर डालो[3]। डा० धुर्ये दास तथा दस्यु को स्थानीय निवासी मानते हैं तथा उनको एक ही मानते हैं। उनका कहना है कि आर्यो ने (दास) को पराजित किया[5]। इन युद्धो से तत्कालीन संस्कृति प्रभावित रही। इसी बीच आर्यो का समाज अपने व्यवसाय तथा कार्य पद्धति क कारण अपने में वर्गीकृत हुआ। आर्यो के तत्कालीन समाज के प्रारम्भ में दो रूप थे–

1— ब्राह्मण

2— क्षत्रिय

जो व्यक्ति पुरोहित तथा वीर नायक की भूमिका का निर्वाह करते थे[6]। पहला वर्ग मंत्र रचना, पाठ, शासन कर्म और पौरोहित्य कर्म में पारगंत था। दूसरा अपनी वीरता से समाज की रक्षा करता था जिससे आगे चलकर राजतन्त्र की स्थापना हुई।

प्रथम वर्ग द्वारा जिसने पौरोहित्य कर्म अपनाया, वह समाज का एक अंग महत्वपूर्ण बन गया। समस्त धार्मिक और याज्ञिक कृत्य मन्त्रों के माध्यम से यही वर्ग सम्पन्न करता था। उसके सहयोग के बिना धार्मिक कार्यों की सम्पन्नता असम्भव एवं अस्वाभाविक थी[7]। इस प्रकार इस वर्ग ने अपना विस्तार किया। हालांकि ऋग्वेद काल में समाज में युद्ध प्रिय लोग निवास करते थे। लेकिन वह युग धार्मिक भावना श्री ओमप्रेरणा से प्रेरित था। हमें उनका अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उस सारी सामग्री का स्रोत पौरोहितियक है। वस्तुतः जनपद में चाहे कितना भी विभेद था लेकिन पुरोहित सम्बन्धी विचार–धर्म के विस्तार तथा नियन्त्रण की दिशा में बहुत बढ़ गया था।

पुरोहित कर्म व्यक्तिगत थे तथा परम्परागत कर्म काण्ड का अनुसरण मात्र से सन्तुष्ट न थे वरन पुरोहित लोग कर्म काण्ड के विषय में अध्ययनरत रहते तथा इसके अधिक अध्ययन के विषय में वाद विवाद करते रहते थे, क्योंकि भिन्न–भिन्न अवसरों पर विभिन्न कर्मकाण्ड, यज्ञ आदि धार्मिकक्रियाओं का पालन किया जाता था, जिनका कार्यान्वयन भिन्न था। ऋग्वेद में विश्वामित्र, वशिष्ठ, अत्री, भारद्वाज आदि नामों की चर्चा विभिन्न रूपों में की गयी यथा–ऋषि तथा पुरोहित के कर्म काण्ड

तथा यज्ञीय विधान के पण्डित स्वीकार किये गये, तथा इन ऋषियों ने समाज का मार्ग निर्देशन किया–चाहे वह शान्ति स्थल (घर) या युद्ध स्थल रहा हो।

पुरोहित प्रथा का उद्भव अति प्राचीन काल में हो चुका था क्योंकि सर्व प्रथम ऋग्वेद के प्रारम्भ में–

"अग्नि मीडे पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम होतारं रत्नधातमम्।।"

मन्त्र से ज्ञात होता है कि अग्नि शब्द का अर्थ–"अग्नि अग्रणीय भवति" जो सबको आग्रे तथा आगे की ओर ले जाये। विकास के मार्ग को प्रशस्त करे और सबका नेतृत्व करे। पुरोहित में भी इन गुणों का समावेश किया गया है। पुरोहित का अर्थ–पुरा+हितम् अर्थात् जो (पुरूष+घा+त) आगे स्थापित किया हो नियुक्त किया गया हो आयुक्त है कर्म के भार को सम्भालता है वहीं पुरोहित है। इसी प्रकार का मत हमें "वैदिक इण्डेक्स" से भी प्राप्त होता है। पुरोहित (सम्मुख रखा हुआ, नियुक्त) पौरोहित्य कर्म करने वाले लोगों का नाम है[8]। पुरोहित साधरणतया समाज का शिक्षक, पथ प्रदर्शक, ऋषि तथा याज्ञिक कर्मों का सम्पादनकर्त्ता था। पुरोहित शब्द का वर्णन विभिन्न स्थलों पर ऋग्वेद में व्यवहृत किया गया है[9]। आचार्य प्रियव्रत ने पुरोहित की व्याख्या करते हुए लिखा है– पुरोहित का अर्थ "पुर, एनं दधति" जिसे सब कार्यों में आगे रखा जाता है। "पुर सर्व कर्म सु धीयते "इससे तात्पर्य भी यही है जिसको सब कार्यों में आगे रखा जाता है[10]।

अर्थात् लोग पुरोहित का अनुगामी बनते थे उनकी आज्ञा का पालन किया जाता था, उसके मार्ग निर्देशन में भी कार्य सम्पन्न होने से संकेत प्राप्त होते हैं। जैसा कि ऋग्वेद के अनुशीलन में ज्ञात होता है–

"याभिः काण्व मेधा तिथि" यामि वेशं दश ब्रजभ्र
यार्मिगों शर्ष भावतं ताभिनो वतं नरा।। 20[11]

हे धार्मिक नेताओं जिस प्रकार आप विद्वानों की, योगीयों की और नष्ट इन्द्रियादि अधिकारियों की रक्षा करते हैं उसी तरह हमारी भी रक्षा करें ताकि आपके आधिपत्य में हमारी विद्या बढ़ाने वाला यज्ञ पूर्ण हो।

इस प्रकार पुरोहित की व्याख्या मार्ग निर्देशक के रूप में की गई तथा उसे अग्नि का स्वरूप माना गया तथा पुरोहित का स्वरूप बहुत ही उच्च्य कोटि का रहा होगा "पुरोदधाति इति पुरोहितः" जो बिना आकांक्षा रखे सदा ही हित की भावना रखता हो–हित का मार्ग निर्देशित करता हैं वह पुरोहित है[12]।

अग्नि देवता तथा पुरोहित प्रथा को हम भुला नहीं सकते। वैदिक कर्म काण्ड का आधार अग्नि देवता है और उनके द्वारा किये जाने वाले कर्म काण्ड का निरीक्षण एवं संचालन पुरोहित के अधीन होता था। चाहे अग्नि पूजा मूल रूप से व्यक्तिगत, जातीय अथवा वर्गीय रही हो लेकिन आन्हिक यज्ञ व्यक्तिगत कृत्य था जिसके विभिन्न स्वरूपों को स्वीकार किया गया। पूजा पद्धति को अधिक कल्याणमय बनाने के लिए अलग–अलग विधि–विधानों की रचना की गयी।

हिन्दी शब्द सागर के द्वारा पुरोहित–प्रधान याजक जो राजा और किसी

यजमान के यहां अगुआ बनकर यज्ञादि श्रोत कर्म, गृह कर्म और संस्कार तथा शान्ति अनुष्ठान, कर्म काण्ड करने वाला माना गया[13]।

ऋग्वेद का अध्ययन इस बात को प्रमाणित करता हैं कि वैदिक ऋषियों ने भारतीय विचार धारा को पूर्ण रूप से प्रमाणित किया है ऋषित्व अथवा पौरोहित्व किसी जाति विशेष का नाम नहीं है। ऋग्वेद के अनेक ऋषि तथा पुजारी, ऋषि सैनिक, कलाकार तथा अन्य कार्यो में कार्यरत दृष्टिगोचर होते हैं, उनका जीवन पूर्णतः सामाजिक था। उन्होंने जीवन को अधिक सुखमय बनाने हेतु देवताओं को प्रसन्न करने के लिए अनेक कर्म काण्ड स्थापित किये जिससे देवता अपने उपासक के ऊपर दयालु रहे। देवोपासकों की इच्छा पूरी होती है तथा देव निन्दक स्वंय जीर्ण हो जाते हैं। यज्ञकर्ता के सामने अयाज्ञिक भाग जाते हैं।[14] इस प्रकार श्रेष्ठ कर्म की स्थापना में ही कल्याण की भावना को लेकर धार्मिक नेता समाज का निर्देशक बना।

पुरोहित पद की स्थापना प्राचीन काल में हो चुकी थी चाहे वह संस्था के रूप में रहा हो अथवा व्यक्ति गत रूप में जैसा कि मि० फिक ने इसे वैदिक कालीन संस्था कहा है[15]। यह विचार इस बात की पुष्टि करता है कि प्राचीन काल में तीन पुरोहित कुलों की व्याख्या की गयी है– अंगिरस, अर्थवन, भृगु[16]। इसका तात्पर्य यह है कि पुरोहित का संगठन था तथा वे सगठित रूप में उस कार्य को करते आये थे। वैदिक काल में प्रत्येक कार्य का प्रारम्भ वैदिक क्रिया (यज्ञ आदि कर्म) द्वारा प्रारम्भ किया जाता था, जिसको सम्पन्न करने हेतु पुरोहित वर्ग की आवश्यकता थी। धीरे–धीरे यज्ञों का विधान विस्तृत होने लगा, जिससे इस कर्म की उपयोगिता और बढ गयी। कालान्तर में राजाओं ने साम्राज्य विस्तार के जिए यज्ञ करने प्रारम्भ कर दिये जिससे पुरोहित वर्ग का और अधिक विकास हुआ[17]। राजाओं द्वारा यज्ञ को अधिक महत्त्व प्रदान करने के कारण उस संस्था का अधिक विकास संभव हुआ। इतना ही नहीं अपितु प्रत्येक सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों में इस पद का महत्व बढ़ गया था।

प्राचीन पुरोहितों में अत्रि ऋषि तथा कण्व ऋषि को अति प्राचीन माना गया है[18]। प्राचीन काल में कुछ ऐसे ऋषि अथवा पुरोहित रहे है। जिनका अपना अलग से स्थान रहा है। तथा कोई संघ नहीं था। जैसा कि ऋग्वैदिक काल से पता चलता है कि विश्वामित्र वशिष्ठ, देवापि, राजाओं के पुरोहित थे[19]। इसका तात्पर्य यह होगा कि उस समय कुल पुरोहित की प्रथा स्थापित हो चली होगी जो वंशानुगत परम्परा को जन्म देती है। आर० सी० मजूमदार भी पुरोहित पद को वंशानुगत मानते है। यदि उनका पुत्र योग्य हो[20]। इस बात से योग्यता का पता चलता है कि हमारे प्राचीन पूर्वज जन्म से पैदा पुरोहित पुत्र को अपना पुरोहित तब ही स्वीकार करते थे जब कि वह वेद–वेदांगों एवं कर्म कांडों का ज्ञाता हो।

कालान्तर में परिवर्तन आया तथा ब्राह्मण वर्ग मुख्य रूप से पोरोहित्य कर्म करने लगा था। अब पुरोहित का कार्य ब्राह्मणों ने अंगीकार कर लिया था तथा ब्राह्मण वर्ग पौरोहित्य कर्म को अपनाते हुए विभिन्न क्षेत्रों का निवासी हो गया था, जिसमें

गतिशीलता का अभाव था उनके लिए लम्बी यात्रा का निषेध था ताकि वह गृहस्थ यज्ञ कर सके[21]। पुरोहित कर्म केवल ब्राह्मण ही करते थे यह संभव है कि बहुत बाद में ऐसा हुआ होगा क्योंकि ऋग्वेद काल में विश्वमित्र का नाम आता है जो कि क्षत्रिय वंश से थे तथा उन्होंने पौरोहित्य कर्म किया। निरूक्त के अनुसार देवापि[22] ने राजधर्म का त्याग किया तथा पौरोहित्य कर्म अपनाया। इससे विदित होता है कि यह पद विद्वता तथा कर्म काण्ड में प्रवीणता प्राप्त करने पर ही प्राप्त होता था तथा प्राचीन काल में यह वर्ग विहीन था। किसी वर्ग विशेष से उनका सम्बन्ध नहीं था, लेकिन यह मानना उचित होगा कि पौरोहित्य का विशेष सम्बन्ध यज्ञीय विद्यानों से सम्बन्धित था तथा उनके संचालन में उस वर्ग का आधिपत्य था जिसके कारण इस पद की उत्पत्ति हुई।

पुरोहित का स्वरूप तथा कार्य

प्राचीन भारतीय संस्कृति में देव पूजा, स्तुतिगान तथा पद रचना एंव कविता पाठ जैसा विवरण प्राप्त होता है जिसका सम्बन्ध धार्मिक कृत्यों से था। धार्मिक क्रिया कलापों के बिना जीवन व्यर्थ माना गया है। इह लौकिक और पार लौकिक दोनों अवस्थाओं में रहने का यह एक मात्र साधन ही न था अपितु मानव के नैतिक तथा साहित्यिक क्रिया कलाप भी धर्म से सम्बन्धित थे। भारतीयों का आध्यात्मिक ज्ञान एवं अनुभव इस बात का प्रेरक रहा है कि पौराहित्य प्रेरणा युक्त तथा तर्क संगत कृत्य था जिसका सम्बन्ध प्राचीन ऋषियों से था, जिन्होंने भारतीय समाज को एक नयी दिशा प्रदान की।

सामाजिक संस्थाओं के जो नियम प्रतिपादित किये गये थे उनमें समन्वय की भावना को निहित किया गया। इस प्रकार की व्यवस्था की स्थापना पौरोहित्य धार्मिकवर्ग तथा प्रशासनिक वर्ग द्वारा ही संभव थी।

वस्तुतः पौरोहित्य कर्म बड़ा व्यापक अर्थ संजोये है क्योंकि उनके द्वारा प्रत्येक कार्य का मार्ग निर्देशन किया गया लेकिन यहॉ इतना कहा कहना आवश्यक है कि पुरोहित प्रथा का प्राचीन काल से ही राजतन्त्र में गहरा सम्बन्ध था। तत्कालीन परिस्थितियों में पुरोहित युद्धरत भी देखा गया। दाशराज संगठन का नेतृत्व विश्वामित्र ने किया[23]था। पुरोहित तर्क संगत जीवन व्यतीत करता था, वह धार्मिक कर्म काण्डों का ज्ञाता था। यद्यपि पुरोहित का कार्य कर्मकाण्ड युक्त था लेकिन मार्ग निर्देशन का कार्य भी कम नहीं था तथा यह समस्त कर्म (पुरोहित्य) पूजा पाठ या धार्मिक कर्म काण्ड के ही स्वरूप था[24]।

ऋग्वेद कालीन संस्कृति में जिस कर्म काण्ड के अनवरत विकास को देखा गया है, उसमें यज्ञ, धार्मिक कृत्य इतने भरे हुए हैं कि देवता की उपासना करने का नियत रूप हमारे सम्मुख नहीं आता। पुरोहितो की उपस्थिति अनिवार्य हो जाती है। तथा पुरोहितों द्वारा कर्म काण्डों के अनेक विभेद किये गये—जमदाग्नि तथा भृगु आदि

वंशों ने 5 विभागों या 6 यज्ञ स्तरों का निर्माण किया था[25]। प्राचीन काल में केवल देवयज्ञों पर ही अधिक बल नहीं दिया गया वरन कर्म की महत्ता को भी दर्शाया गया। ऋग्वेदिक काल में "दास और आर्य दो वर्ग माने गये। इन वर्गो के आधार पर एक दूसरे पर आक्रमण होते थे क्योंकि आर्यो ने अपने आपको सत्कर्मों में ढाल लिया था अर्थात् सुमार्ग का गमन करने वाले, दैनिक यज्ञ करने वाले, देव स्तुति करने वाले, जिनका जीवन निरन्तर प्रगति वाला था उन्हें आर्य कहा गया "आर्य" का अर्थ "श्रेष्ठ" होता है। दूसरी तरफ "दास" को दुष्ट कर्म करने वाला माना गया था। ऋग्वेद में एक स्थल पर कहा गया कि समस्त विश्व को आर्य बनाओ[26]। वैदिक युग के अत्यन्त आरम्भिक काल में जो लोग विद्या, शिक्षा, तप, यज्ञ, धार्मिकता आदि में अधिक रूचि रखते थे उन्हीं को पुरोहित माना गया जिसका आधार कर्म था अर्थात् कर्म के आधार पर ही पौरोहित्य कर्म निश्चित किया गया।

ज्ञानयुक्त सात्विक कर्म करने से ज्ञानयुक्त शरीर बनता है तथा अज्ञान युक्त कार्य करने से आज्ञानयुक्त शरीर बनता है। संसार का यह नियम है। कि जो ज्ञान तथा कर्म में पूर्ण होता है वही दूसरों का मार्ग निर्देशन कर सकता है।

ऋग्वेद काल में विश्वामित्र पौरोहित्य कर्म अपनाना चाहते थे क्योंकि सर्व गुण उसमें विद्यमान थे जो कि ऋषि या पुरोहित में होते हैं। 'लेकिन समाज में वे क्षत्रिय ही माने गये। पुरोहित कार्य करने पर भी वे ब्राह्मण (पुरोहित) नहीं हो पाये[27]। इससे प्रमाणित होता है कि उस काल में पुरोहित पद का महत्व अधिक था तथा सभी ब्राह्मण प्रायः पुरोहित नहीं थे। पुरोहित पद पर नियुक्ति की जाती थी। एक स्थान पर प्राचीन काल में ऋषि विश्वामित्र विजवन के पुत्र सुदास का पुरोहित बना[28]। इससे हमारे सम्मुख कई तथ्य उपस्थित होते हैं–

(i) पौरोहित्य कर्म करने पर भी पुरोहित स्वीकार न करना।
(ii) सुदास के पुत्र का पौरोहित्य विश्वा मित्र द्वारा किया गया।
(iii) विश्वामित्र क्षत्रिय थे लेकिन उन्होंने पौरोहित्य धर्म अपनाया।

अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि विश्वा मित्र की गणना प्राचीन ऋषियों में की जाती है इस लिए यह मानना कि वे पुरोहित नहीं थे उचित न होगा तथा समाज ने उन्हें पुरोहित की दृष्टि से देखा है जब उन्होंने दाशराज संगठन की तरफ से युद्ध का संचालन किया तब उनका क्षत्रियधर्म दृष्टि गोचर होता है लेकिन प्राचीन काल मे युद्ध संचालन भी धर्म के अन्तर्गत आता था तथा पुरोहित युद्ध कला में निपुण होता था। विश्वा–मित्र ने अपने युद्ध कौशल से भारत जाति की रक्षा की थी[29]। इस प्रकार पौरोहित्य कर्म के अन्तर्गत राष्ट्र हित सर्वोपरि है। पुरोहित सन्मार्ग का निर्देष्टा है। पुरोहित का राष्ट् कार्यो सें सम्बन्ध पाया जाना अत्यन्त आवश्यक था।

वस्तुतः ऐतिहासिक काल में पुरोहित राजत्व की शान एवं गरिमा का प्रतीक था। एक स्थल पर अथर्ववेद में उल्लेख मिलता है–

संशितं इदं ब्रह्म संशितं वीर्य बलम्।
संशितं क्षत्रय जरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः
समह मेषां राष्ट्रं स्यामि समो जो वीर्य बलम्[30]। 3/19/2

(अर्थात मैं इनके राष्ट्र को तीक्षण करता है, मजबूत बनाता हूं राष्ट्र में आत्मबल पैदा करता हूँ पराक्रम तथा शारीरिक बल को भी बढ़ाता हूं)

तीखणीयासः पर शोरमेस्तीक्षण तश उत।
इन्द्रस्य वज्रात्तीक्षणीयांसों ये षामस्मि पुरोहितः[31]।।3/19/4

(अर्थात जिनका मैं पुरोहित हूँ वे कुल्हाड़े से भी अधिक तीक्षण है, अग्नि से अधिक तीक्षण हैं। इन्द्र के वज्र से अधिक तीक्षण है।)

इस प्रकार के प्रसंग ऋग्वेद, अथर्ववेद में देखने को मिलते हैं जिससे यह ज्ञात होता है युद्ध संचालन में पुरोहित का एक महत्त्वपूर्ण स्थान था।

पुरोहित के विषय में इतना ही कहना उपयुक्त न होगा कि वह युद्ध संचालन तक ही राष्ट्र अथवा राजा से सम्बन्धित था बल्कि राजा के घर, प्रशासन, न्याय, शिक्षा, तथा कर्म काण्डों में विशेष महत्व रखता था। क्योंकि पुरोहित को राजा का आधा अंश माना गया है। वैदिक काल से धर्म शास्त्रों तक इसका अस्तित्व पाया जाता है[32]। इस प्रकार के राज्य के सभी कार्यों में पुरोहित का महत्व रहा होगा। अमर कोष के अनुसार "पुरोधास्तु पुरोहितः" अर्थात् पुरोधा को ही पुरोहित स्वीकार किया गया[33]। इससे यह तात्पर्य हैं कि यह पद पहले अनेक नाम से जाना जाता रहा होगा लेकिन यह सब परिवर्तन बाद में आये प्रतीत होते हैं। सबसे प्राचीन नाम पुरोहित पद ही है जैसा कि हमको ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है। पुरोधा के समकक्ष कोई पद था, अथवा पुरोहित के लिए प्रयोग किया गया ऐसा प्रतीत नहीं होता है।

पुरोधा–(1) धार्मिक कार्यो का अग्रणी अथवा नेता, पर घरेलू पुरोहित पद का द्योतक है। (2) राजा के मन्त्री परिषद् के प्रमुख सदस्यों में उसकी भी गणना है। धार्मिक तथा विधिक मामलों में पुरोधा राजा का परामर्श–दाता होता था[34]।

इस प्रकार देखा जा सकता है। कि पुरोहित का सम्बन्ध राजा या राज्य के साथ बहुत ही घनिष्ठ था। राज्य के कल्याण की भावना मुख्य रूप से पौरोहित्य का आधार थी। इसलिए पुरोहित राष्ट्र की समाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा धार्मिक उन्नति का द्योतक रहा है क्योंकि जिस राष्ट्र का जितना योग्य पुरोहित होगा उसकी उन्नति उतनी ही निश्चित थी। पुरोहित राजा के धर्म–कर्म में संलग्न था तथा उसकी उपस्थिति अनिवार्य थी।

पुरोहित पहले "होता" होते थे जो केवल स्तुतियों का गान करते थे[35] ऐसा ही विवरण ऋग्वेद के प्रथम मण्डल से प्राप्त होता है कि यज्ञ सम्पन्न करने के लिए बहुत से लोग इक्ट्ठा हुआ करते थे–उद्गाता–गान करते थे। स्तोता– स्तुति करते थे। अन्य ब्राह्मण पुरोहित उन्हें आज्ञा देते थे[36]। प्राचीन काल में प्रायः पुरोहित लोग मन्त्रों को याद किया करते थे तथा बाद में ऊँचे स्वर में गाया करते थे। उस समय

वेदो की शिक्षा मौखिक रूप से दी जाती थी। पुरोहितो को सारे वेदों का कण्ठस्थ होना अत्यन्त आवश्यक था। यही मूलतथ्य पौरोहित्य परम्परा का कारण रहा होगा क्योंकि एक विशेष ज्ञान प्राप्त करना सभी लोगों की समर्थ से बाहर था तथा पुरोहित लोग अपने तथा कुलीन व्यक्तियों को ही यह शिक्षा देते रहे होंगे। लेकिन इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है कि पुरोहित का पद एक ही परिवार में वंशानुगत होता था[37]। कुछ कार्य स्वाभाविक होने के कारण ऐसा हो भी सकता है। क्योंकि यदि पुरोहित कुल में कोई योग्य पुत्र अथवा सदस्य होगा तो वह अपनी विद्वता तथा योग्यता के आधार पर पुरोहित पद प्राप्त कर सकता था जैसा कि आर० सी० मजूमदार मानते हैं कि पुरोहित पद वंश परम्परानुकूल था जब कि उसका पुत्र पिता की तरह योग्य हो[38]। इस प्रकार पुरोहित पद पर तभी नियुक्त किया जा सकता था जब कि वह योग्य हो उसमें राष्ट् का मार्ग निर्देशन की क्षमता हो तथा उसे धार्मिक कर्म काण्ड का पूर्ण ज्ञान हो।

प्रतीत होता है कि पुरोहित का सम्बन्ध राजतन्त्र में अवश्य ही था भले ही पुरोहित का मुख्य कार्य धार्मिक कर्म काण्डों से सम्बद्ध रहा हो। धार्मिक कर्म काण्डों की अधिक जटिलता होने के कारण राजाओं के द्वारा पुरोहित को रखना अनिवार्य हो गया था क्योंकि पुरोहित का स्थान शान्ति कार्यो से लेकर युद्ध स्थल तक हो गया था इसलिए पुरोहित का महत्व बढा। यह महत्व बाद में अधिक बढ़ा प्रतीत होता है। प्रथम में इसका स्थान राजा के सहयोगी, सलाहकार तथा मार्ग निर्देशन के रूप में रहा, लेकिन बाद में चलकर इस पद का महत्व इतना अधिक बढ़ गया कि पुरोहित का सम्मान करना अति आवश्यक हो गया था। ऋग्वेद के द्वारा– जो राजा अपने पुरोहित का यथोचित सम्मान करता था। वह अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता था[39]। इस प्रकार राजा अपने पुरोहित की आज्ञा का पालन तथा उसका सम्मान करता था।

वैदिक साहित्य का अनुशीलन करने से यह भी ज्ञात होता है कि पुरोहित पद राज्य का अवश्यक अंग था। राज्य में एक या उससे अधिक पुरोहितों का रखना भी अति आवश्यक था क्योंकि किसी भी बात को ज्ञान एवं तर्क द्वारा ही सिद्ध किया जाता था। कुछ धार्मिक क्रियायें इतनी बढ़ गयी थी कि उनको सम्पन्न करने में एक से अधिक पुरोहित की आवश्यकता होती थी। गेल्डनर के मतानुसार अधिक पुरोहित संभव थे[40]। इससे प्रमाणित है कि पुरोहित पद आवश्यक था चाहे संख्या जो भी रही हो। प्राचीन काल में ऐसा भी देखने को मिलता है कि एक ही पुरोहित दो राजाओं के यहां पौरोहित्य कर सकता था। एक ही पुरोहित एकाधिक राजाओं की सेवा करता था[41]। इस प्रकार पुरोहित का अपना एक विशेष स्थान था। भले ही स्वरूप कुछ भी रहा हो राजनेता का अथवा धर्म नेता का। लेकिन पुरोहित का स्थान अन्य ब्राह्मणों से बढ़कर था क्योंकि वह बड़े–बड़े यज्ञों का ही संचालन न करता था बल्कि गृह्य पूजन आदि में भी वह सहायक बनता था इसलिए उसका धार्मिक कृत्यों में राजा के ऊपर अधिक प्रभाव था। विप्रो की गृह्य एवं धार्मिक शक्ति के साथ–साथ राजनैतिक शक्ति भी पुरोहित में निहित रहती थी[42]।

इस प्रकार हम देखते है कि पुरोहित का कार्य अन्य कार्यो की अपेक्षा धार्मिक अधिक था जैसा कि डा० राधा कुमुद मुखर्जी का कथन है "पुरोहित का मुख्य कार्य राजा के घर में पुरोहिताई करना था धार्मिक बातों में वह राजा का प्राण था, किंतु वह राजनीति में भी नेतृत्व करता था[43]।

ऋग् वैदिक काल में पौरोहित्य

प्राचीन भारतीय संस्कृति का प्रमुख श्रोत ऋग्वेद संहिता है जिसके अध्ययन से वैदिक कर्म काण्डों तथा सामाजिक व राजनैतिक गतिविधियों का ही नहीं अपितु प्राणी –मात्र के कल्याण का ज्ञान भी प्राप्त होता है। सम्पूर्ण सहिंता का विभाजन मंडलों तथा सूक्तों में है जिनकी रचना प्राचीन ऋषियों द्वारा की गयी है। पूर्व वैदिक काल में ऋषियों ने जो धार्मिक कृत्य या कर्म–काण्ड देवी देवताओं की अर्चना, समाज और संस्कृति विषयक रचना की उनका भारतीय संस्कृति में महत्व पूर्ण स्थान है। इसके आधार पर उस काल की संस्कृति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। हिन्दू समाज में व्यावहारिकता तथा आध्यात्मिकता का आधार वेद ही है।

ऋग्वेद में इन्द्र, मित्र, वरूण, अग्नि जैसे अनेक देवताओं की अभिव्यक्ति से विभिन्न रूपों तथा सत्‌ताओं का वर्णन प्राप्त होता है[44]। देवताओं की शक्ति तथा प्रभाव मानव की अपेक्षा अधिक था। प्रकृति की शक्तियों पर देवों का एकाधिकार माना गया है। वस्तुतः वैदिक काल में यह स्वीकार किया गया था कि देव हमारी रक्षा करते हैं, हमें समृद्ध बनाते हैं तथा उनकी पूजा से हम शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। एक स्थल पर अग्नि से प्रार्थना की जाती है– हे अग्नि जिस प्रकार पिता पुत्र के लिए असन्नवर्ती होता है, उसी प्रकार आप मेरे पिता हो, हमारे कल्याण का प्रयास करें[45]। "इन्द्र" जो अत्यन्त शक्तिशाली तथा शौर्य युक्त देवता माना गया जो दस्यु को मार भगाने वाला आर्यो का सर्वश्रेष्ठ देव था, तथा वह युद्ध में शत्रुओं को पराजित करता था। वह वीर देव योद्वाओं को विजयश्री प्राप्त कराने वाला तथा शत्रुओं को पर्वत की गुफा में फेंक देने वाला शक्ति सम्पन्न देवता था[46]। इस प्रकार इन्द्र की स्तुति जहां वीरता तथा शौर्य के लिए की जाती रही वही इन्द्र को देवताओं का भी शासक माना गया है। क्योंकि यज्ञों में इन्द्र की प्रधानता थी[47]।

वरूण को जगत का पोषक माना गया। वह आकाश, सूर्य, पृथ्वी आदि का निर्माणकर्ता था जिसकी स्तुति की जाती थी। समस्त शुभ तथा अशुभ परिणामों को देने वाला था। एक स्थल पर ऋषि उसकी स्तुति करते हुए कहता है–कि हमारे पित्रों को पाप से मुक्त करो तथा हमें पाप से बचाओं[48]। स्तुतिकरण के समय अधिकाधिक देवताओं का स्मरण किया जाता था। मुख्य देव रूद्र, अग्नि, सोम तथा इन्द्र समझे जाते थे।

अग्नि पर मुख्य रूप से प्रकाश डालना अनिवार्य है क्योंकि वैदिक संस्कृति का उद्‌भव अग्नि से है। लौकिक व अलौकिक सभी कार्यों का समाधान अग्नि के माध्यम से होता था। समस्त याज्ञिक कर्म अग्नि से ही होते थे।। क्योकि अग्नि के

बिना यज्ञ का होना असंभव था। इसलिए उसे पुरोहित, होता तथा याज्ञिक कहा गया है। वह आहुतियों का स्वामी और धर्मों का प्रधान था उसी के माध्यम से देवताओं तक आहुति पहुँचा कर प्राप्त किया जाता था[10]। अग्नि के प्रतीक वैदिक देवताओं के गण ऋषियों की प्रार्थनाओं के स्यूमन में बन्धे चले आते हैं। अग्नि का अर्थअग्रणी है। इसलिए इसमें नेतृत्व की शक्ति विद्यमान है। इसप्रकार देवो की जो उपासना, प्रार्थना, स्तुति की गयी हं उनमें इन्द्र, वरूण, अग्नि,सोम आदि देवता ही है। इन देवताओं का क्या रूप था तथा किन–किन विधियों से उनकी स्तुति, प्रार्थना, अर्चना क़ी जाती रही होगी यह बात बता पाना बड़ा कठिन है।

इन देवों का स्तुति–करण कैसे किया जाता था ? पूजा, पाठ, अर्चना तथा याज्ञिक कर्म काण्ड से ऐसा प्रतीत होता है कि पुरोहित देव तथा साधरण मनुष्य के बीच एक माध्यम के रूप में था। पूर्व वैदिक काल में इस पद का व्यापक कार्य क्षेत्र न रहा होगा तथा तत्कालीन परिरिथतियों के कारण पुरोहित का अधिक समय युद्ध कला, नीति निर्धारण तथा राष्ट् रक्षा जैसे कार्यों में व्यतीत रहता रहा होगा लेकिन इन सब कार्यो में कर्म–काण्ड का महत्व अवश्य था। ऋग्वेद से पता चलता है कि सारे विश्व का संचालन यज्ञ से होता था। तत्कालीन समाज में ऐसा वर्ग था जो स्तुति तथा स्तवन में विश्वास करता था[50]। उक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि पुरोहित का स्थान पूर्व वैदिक काल में याज्ञिक कर्म–काण्ड में अवश्य था। उल्लेखनीय है कि पुरातात्विक आधार पर ऐसी मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। इनमें देवपूजा, वृक्ष पूजा, शिव पूजा, नाग पूजा आदि के संकेत प्राप्त होते हैं। पहले दर्शन और ज्ञान के मर्मज्ञ लोग रहते थे[51]। उसका तात्पर्य यह है कि पौरोहित्य कर्म व्यवस्था हिन्दू संस्कृति मैं बहुत पहले से विद्यमान थी। इस प्रकार निसंदेह कहा जा सकता है कि समाज में प्रचलित मान्यताओं में पुरोहित का स्थान महत्वपूर्ण था। देवी, देवताओं की पूजा उनके धर्म का महत्व पूर्ण अंग थी। देव् पूजा, याज्ञिक कर्म–काण्ड द्वारा सम्पन्न की जाती थी यज्ञ का अनुष्ठान करते हुए मन्त्रों का पाठ किया जाना अत्यन्त आवश्यक था उसके लिए पुरोहितों की सहायता ली जाती थी। यज्ञों द्वारा देवताओं का आह्वान किया जाता था जिसमें घी, दूध अन्न आदि की आहुतियां दी जाती थी। इस प्रकार पूर्व वैदिक काल में पुरोहित का स्थान शान्तिक कार्यों में अपरिहार्य था। ऐसा प्रतीत होता है कि यज्ञों का महत्व ऋग्बेद काल से ही बढ़ गया था। एक स्थान पर कहा गया है–हे अग्नि देव जो तुम्हारा यज्ञ करता है,वह स्वर्ग में चन्द्र बन जाता है[52]। प्राचीन काल में साम्राज्यों के विकास के साथ–साथ पुरोहित प्रथा का भी विकास हुआ क्योंकि राजन्य वर्ग ने अपने साम्राज्य विस्तार के लिए विभिन्न यज्ञों का आयोजन किया क्योंकि मनुष्य के सभी कर्मों में याज्ञिक क्रिया ही श्रेष्ठ थी[53]।

प्राचीन काल में विशेष बात यह रही कि भारतीयों का जीवन संघर्षमय था तथा पुरोहित राजा को विभिन्न प्रकार से सहायता तथा सलाह दे सकता था जो उसके राजा की विजय हेतु देवताओं की स्तुति तथा यज्ञ सम्पन्न करता था। राजा

के साथ कार्य करने वाला ही राज पुरोहित होता था। ऋग्वेद काल के वशिष्ठ ऐसे ही राज पुरोहित थे। प्राचीन काल के साहित्य का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि राज पुरोहित राजा को समय–समय पर अपनी सलाह देता था। राजकीय तथा सामूहिक कल्याण के लिए यज्ञ सम्पन्न करता था। शत्रु के आक्रमण के समय वह भी राजा के साथ युद्ध में जाता था[५४]। इतना ही नहीं अपितु प्राचीन इतिहास का अवलोकन करने से ऐसा भी ज्ञात होता है कि प्राचीन समय के युद्धो का संचालन पुरोहित ही किया करते थे जैसा कि विश्वामित्र दाशराज संगठन के नेता थे और उसके प्रति–पक्षी सुदास के नेता वशिष्ठ थे। अनुओं के नेता भृगु थे[५५]। भृगु ब्राह्मण थे तथा द्रह्यु के पुरोहित के रूप मेंउनका वर्णन प्राप्त होता है। ऐसा ही विवरण हमें आर्थर बेरीडालकीथ से मिलता है। "वे ऐतिहासिक लोगों के रूप में द्रुहयो के साथ आते हैं[५६]। पूर्व वैदिक काल में पौरोहित्य का महत्व इतना न था जितना कि उत्तर वैदिक काल में। पूर्व वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था भी पूर्णतया कायम न थी। इतना अवश्य था कि उस युग में पौरोहित्य कर्म शिक्षा, तपस्या, देवता की पूजा कर्म–काण्ड, यज्ञादि कृत्य के रूप में विकसित हो रहा था। उनका स्थान व कार्य क्षेत्र को प्राप्त करने के लिए समाज में प्रतिद्वन्दिता दिखायी देती है जैसा कि विश्वामित्र राजा सुदास के पुरोहित थे, लेकिन बाद में उनका स्थान वशिष्ठ ने प्राप्त कर लिया[५७]।

इस कथन से दो बातों का स्पष्टीकरण होता है प्रथम उस पद का महत्व इतना बढ़ गया था। कि इस पद को प्राप्त करना विद्वान लोग अपनी सिद्धि मानते थे। द्वितीय वशिष्ठ ऋषि ब्राह्मण वर्ग या वर्ण से सम्बन्धित थे तथा विश्वामित्र क्षत्रीय वर्ण से उन्होंने अपनी त्याग तपस्या से यह पद प्राप्त किया था। जिससे इन दोनों पुरोहितों में द्वेष पैदा हो गया तथा दाशराज्ञ संघर्ष में विश्वामित्र ने दाशराज्ञ संगठन का नेतृत्व किया तथा वशिष्ठ उनके विरूद्ध सुदास राजा की ओर थे। इस प्रकार इन दोनों पुरोहितों में विरोधी भावना थी। यास्क ने विश्वामित्र को सुदास का पुरोहित माना है[५८]। इससे यह स्पष्ट होता है कि विश्वामित्र ने या तो पुरोहित पद प्राप्त कर लिया हो या राजा सुदास ने शक्ति (वशिष्ठ पुत्र) के समाप्त हो जाने पर विश्वामित्र को अपने राज्य का पुरोहित बनाया था। विश्वामित्र ने इतनी योग्यता प्राप्त कर ली थी उनका स्थान ऋषियों में था।

उक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में पुरोहितो ने अपना स्थान राजा के यहाँ बना लिया था क्योंकि राज्यों में पुरोहित नियुक्त थे। मुख्यतया उनकी नियुक्ति प्रशासन तन्त्र द्वारा ही की जाती रही होगी। पुरोहित का सम्बन्ध युद्धों से बना रहा यह तत्कालीन परिस्थिति थी, क्योंकि उस समय लोग युद्ध प्रिय थे इसी कारण पौरोहित्य में कर्म काण्ड के साथ युद्ध कौशल प्रवीणता भी पुरोहित का एक गुण था।

पुरोहितो का राष्ट्र रक्षा में विशेष स्थान था तथा वे समाज के मार्ग दर्शन नेता थे स्वाध्याय सन्देह के द्वारा ज्ञात होता है–

"समह मेषां राष्ट् स्यामि समोजों वीर्य वलम्"

अर्थात् में इनके राष्ट् को तथा ओजवान वीर्य को एक सूत्र में पिरो सकता हूँ"। पुरोहित के द्वारा शक्ति का संचालन किया जाता था जिससे राष्ट् की रक्षा की जा सके। इस प्रकार पुरोहित का राजा से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर ऐसा विवरण प्राप्त होता है। कि समय–समय पर राजा को पुरोहित का निर्देशन प्राप्त था। पुरोहित राजकीय तथा जन–कल्याण हेतु यज्ञ करता था तथा शत्रु के आक्रमण के समय युद्ध में जाकर सैनिको का उत्साह वर्द्धन करता था। इन सब विवरणों से ज्ञात होता है कि पूर्व वैदिक काल से पुरोहित का राष्ट्र रक्षा तथा युद्ध में महत्व कम न था उसका जीवन युद्ध कला कौशल से अनभिज्ञ न था।

पूर्व वैदिक काल में पूजा पाठ तथा देव स्तुति का कार्य भी कम नहीं था लेकिन कर्म काण्ड अधिक जटिल न था। धार्मिक कृत्यों में वह अपना अधिकार सर्वोच्च रखता था राजा के ऊपर भी उनकी आज्ञा चलती थी वैदिक धर्म कोष का कथन है– विप्रोकी गृह्य धार्मिक शक्ति के साथ–साथ राजनैतिक शक्ति भी पुरोहित में निहित रहती थी। इसका तात्पर्य यह है पुरोहित का सम्बन्ध समान्यतया राज्य से धनिष्ठ था।

डा० सत्यकेतु ऐसा मानते है कि वैदिक युग में राजकृतः में पुरोहित का स्थान नहीं था। ऐसा संभव है क्योंकि उस युग में पौरोहित्य इतना महत्व प्राप्त न कर सका था कि वह राजा कि नियुक्ति में योगदान करता हो लेकिन धार्मिक क्रिया प्राचीन काल से सम्पन्न की जाती थी यह कार्य पुरोहित सम्पन्न करता था क्योंकि पुरोहित सभी धार्मिक विषयों में राजा का "द्वितीय आत्मैव "होता था। इसका तात्पर्य यह है कि पुरोहित राजा के राजनैतिक जीवन से लेकर धार्मिक कृत्यों तक अपना विशेष स्थान रखता था अर्थात् घर से प्रशासन तथा युद्ध तक पौरोहित्य का महत्वपूर्ण स्थान उस युग में हो चुका था। भले ही यह कार्य वर्ग विहीन रहा हो लेकिन कुल पुरोहितों के रूप में अवश्य रहा होगा जैसे विश्वसमित्र तथा वशिष्ठ जो अपने प्रयासों तथा ऋषित्व के कारण पौरोहित्य कर सके।

उत्तर वैदिक युग में पौरोहित्य..

पूर्व वैदिक युग में चातुर्वर्ण्य पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुआ था। ऋग्वेद के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज वर्ग या कबीलों में विभक्त था। ऋग्वेद म अनेक स्थलो पर पचजना और पंच कृष्टय का उल्लेख हुआ है। वे पचजना अनु, द्रुह्यु, यदु, तर्वशु और पुरू थे जो संभवतया आर्य कवीलें या परिवार थे। भरत, त्रित्सु तथा श्रंजय आदि अन्य जनों का भी विवरण हमें वेदों में देखने को

मिलता है। इसके विपरीत वेदों में "दास" या "दस्यु" जाति का भी उल्लेख है जो मुख्यतः आर्यो के पहले से भारत के निवासी थे। इनकी अनेक समृद्ध बस्तियाँ भारत में विद्यवान थी[05]।

आर्यो के भारत में बस जाने के बाद उनकी सामाजिक स्थिति समान न रही तथा उनमें वर्ग विभेद शुरू हुआ वीर सैनिक युद्ध काल में कुशल होकर प्रभावशाली होने लगे थे। जो लोग पहले से ही धर्म, पूजा पाठ तथा कर्म काण्डों में संलग्न थे आर्यों के बस जाने के कारण उनका सरल धर्म निरन्तर अधिक जटिल होता गया। निपुणता प्राप्त याज्ञिक श्रेणी का विकास होता गया। सर्व साधारण विश (वैश्य जनता) भी आर्यो के वर्ग का नाम था जिनसे क्षत्रीय तथा ब्राह्मण उत्कृष्ट एवं भिन्न थे। यद्यपि यह काल ऐसा था कि इसमें ऐसे ब्राह्मण पुरोहित थे, जो समय और आवश्यकता के अनुसार एक या एक से अधिक यज्ञमानों की सेवा करते थे और उन्हें आर्शीवाद देकर विपुल धन सम्पत्ति प्राप्त करते थे। ऐसे ब्राह्मण पुरोहित बिना भेद के आर्य तथा अनार्य की सेवा में रत थे अर्थात दोनों वर्गो के यहां पौरोहित्य करते थे। ऋषि वंश अङ्गव्य ने दास कवीले के स्वामी कल्लूथ और तरक्ष को आर्शीवाद देकर दक्षिणा में 1000 ऊंट प्राप्त किये थे[06]। इस प्रकार पुरोहितों को पशु सम्पत्ति के रूप में दान किये जाते थे और दान प्रथा का प्रचलन भी प्राचीन है जैसा कि विदित होता है। इसलिए पुरोहितों का कार्य दान ग्रहण करना भी था।

कालान्तर में आर्य कबीले मुख्य रूप से तीन भागो में विभक्त हो गये–

1. ब्राह्मण–धार्मिक क्रिया कराने वाला पुरोहित वर्ग
2. राजन्य– राज परिवार अथवा योद्धा शासक क्षत्रीय वर्ग
3. वैश्य–कृषि और पुशपालन करने वाले तथा आहार उत्पन्न करने वाले

लेकिन वेदोत्तर कालीन समाज व्यवस्थित तथा सुगठित हो गया था। इसी युग से वर्ण व्यवस्था का रूप निखरा। ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य, शूद्र का उल्लेख अथर्ववेद[07] तथा यजुर्वेद में किया गया है। इस प्रकार इस काल में वर्ग व्यवस्था पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी। याज्ञिक कर्म काण्ड का जो जटिल रूप इस काल में विकसित हुआ उसके कारण पुरोहित वर्ग का महत्त्व बढ़ने लगा था। अब धार्मिक अनुष्टानों में पुरोहित का होना अनिवार्य था क्योंकि उसका स्थान समाज में सर्व श्रेष्ठ था, उसमें देवताओं का निवास माना गया। अब वह अधिक सम्मानीय था, क्योंकि बिना उसके राजा का राज्य ऐसे नष्ट हो जाता था जैसे टूटी नाव जल से नष्ट हो जाती है[08]। इस प्रकार पौरोहित्य का महत्व बढ़ गया था जिसके कारण वह राज्य का प्रमुख व्यक्ति बन गया था।

रत्नियों में प्रमुख स्थान

उत्तर वैदिक काल में पुरोहित पद का महत्व निरन्तर बढ़ता रहा अब उसकी गणना रत्नियो में की जाने लगी। वैदिक युग में कुछ लोग "राजन्य राजकृतः" होते

थे जो राजा को पर्ण मणिदान किया करते थे। उत्तर वैदिक युग में उन्हीं का स्थान अभिषेक के समय होता था वह राजा को हवि प्रदान करता था[69]। रत्न हवि इष्टि का वैधानिक महत्व उन दो शब्दों में प्रकट होता है।

प्रथम राजवर्तृ दूसरा राजकृतः। इसका विवरण अथर्ववेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों से ज्ञात होता है। इसका प्रयोग उन व्यक्तियों के लिए आता है जो राजा न होते हुए भी राजा के अभिषेक में सहायक बनते थे। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार ये राजकर्त्ता ही राजा को सिंहासन पर बैठने की नियमानुसार घोषणा करते थे[70]। इससे यह ज्ञात होता है कि पुरोहित का स्थान अब राजा के चयन में हो गया था अर्थात् जब राजा का अभिषेक होता था तो राजकृतः में उनका स्थान था। अल्तेकर के अनुसार पुरोहित का वैदिक काल के रत्नियों में प्रमुख स्थान था और कई शताब्दियों तक उसका स्थान मन्त्री परिषद में विद्यमान रहा[71]।

तैत्तिरीय संहिता में भी "रत्नियों" का राजा के विशेष कर्मचारियों के रूप में उल्लेख मिलता है जिनका राज्यभिषेक के अवसर पर महत्वपूर्ण स्थान था यथा–पुरोहित, राजन्य, महिषी वावात् (प्रिय स्त्री) (परित्यक्ता स्त्री) सूत सैनानी, ग्रामणी, क्षत्री छत्रवाहक, संग्रहीत् (कोषाध्यक्ष) (भाग) (राज कर लेने वाला) और अक्ष्यवाप (धूताध्यक्ष) आदि[72]। ऐसा प्रतीत होता है कि संहितओं के समय पुरोहित का स्थान और अधिक बढ गया होगा तथा इसने प्रथम स्थान प्राप्त कर लिया होगा डा० सत्यकेतु रत्नियों में पुरोहित का स्थान दूसरा मानते हैं। यथा– सेनानी, पुरोहित अभिषिक्त होने वाला स्वयं राजा, महिषी आदि[73]। शतपथ ब्राह्मण में रत्नियों का क्रम निम्न प्रकार है–यथा– सेनानी, पुरोहित महिषी, सूत ग्रामीण क्षत्वा, संगृहीत, भागदूध, अक्षवाद, गौ निकर्तन पालागल आदि[74]।

इसी प्रकार पंच विश ब्राह्मण में रत्नियों का आठ वीरों के रूप में वर्णन प्राप्त होता है जो प्रशासन में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते थे यथा–(1) राजाभ्रता (2) राजपुत्र (3) पुरोहित (4) महिषी (5) सूत (6) ग्रामीणी (7) क्षता (8) संग्रहीता[75]।

ऐसा प्रतीत होता है कि पौरोहित्य का महत्व बढ़ जाने के कारण उनको रत्नियों में महत्व पूर्ण स्थान देना आवश्यक हो गया था। इसलिए उनकी गणना राज्य के मुख्य पदाधिकारियों में की जाने लगी। इस युग के लोगों का विश्वास था कि जिस राजा के योग्य पुरोहित नहीं होगा उसका हवि भाग देवता स्वीकार नहीं करेंगे[76]।

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि पुरोहित केवल याज्ञिक कर्म काण्डों की दृष्टि से ही नहीं अपितु वह प्रशासन का भी मुख्य अंग था। पुरोहित राज दरबार में एक मन्त्री के समकक्ष स्थान रखता था। राजवली पाण्डेय का मत है– कि पुरोहित राजा के राजनैतिक और धार्मिक मामले में इसका प्रधान–मन्त्री था[77]।

राधा कुमुद मुखुर्जी के अनुसार धार्मिक बातों में वह राजा का दूसरा प्राण था।[76] वस्तुतः पुरोहित की राजनीति, प्रशासन, युद्ध, न्याय, शिक्षा आदि क्षेत्रों में प्रमुखता उसके धार्मिक कर्म काण्ड तथा याज्ञिक क्रियाओं के कारण ही थी क्योंकि वह प्रत्येक कार्य को सम्पन्न या प्रारम्भ करने के लिए मुख्य कार्यकर्त्ता था।

पुरोहित की महत्ता इस तथ्य से और भी स्पष्ट हो जाती है कि जब राज्याभिषेक महा पर्व पर अनेक यज्ञों तथा धार्मिक कृत्य सम्पन्न करते हुए पुरोहित कहता है कि "तू वीरता की योनि और नाभि है। कोई तेरी हिंसा न करे और न तू हम लोगो की हिंसा करें"। नियमों का पालन करने वाला तथा विध्नों का निवारण करने वाला व्यक्ति प्रजा में ऐश्वर्य प्राप्त करता है। सुकर्मा व्यक्ति ही साम्राज्य के योग्य होता है। मृत्यु से रक्षा कर सूर्य देव के प्रकाश, अश्विनी कुमारों की भुजाओं, प्रजा के हाथों और अश्विनी कुमारों की ओषधियों से बल, की और यश के लिए इन्द्र के इन्द्रिय से मैं तेरा अभिषेक करता हूं। उपरोक्त विवरण इस तथ्य का प्रतीक है कि राजा द्वारा पुरोहित का आर्शीवाद प्राप्त तथा कृपा प्राप्त करना कितना अनिवार्य हो गया था।

विभिन्न वर्णो में ब्राह्मण की सर्वोपरिता

ऋग्वेद के पुरूष सूक्त[77] के अनुशील से विदित होता है। कि ऋग्वेद काल में ही ब्राह्मण (पुरोहित) (क्षत्रिय) (राजन्य) (वैश्य) (व्यापार एंव कृषि) एवं शुद्ध आदि वर्गो का विकास हो चुका था। यद्यपि बहुत से लोगों का मत है कि यह सूक्त क्षेयक है अर्थात् बाद में ऋग्वेद में जोड़ दिया गया किन्तु ब्राह्मण तथा क्षत्रिय शब्दो का प्रयोग ऋग्वेद में बहुधा देखने को प्राप्त होता है। पुरूष सूक्त के अनुसार–

ब्राह्मणोडस्य मुखासीद बाहू राजन्यकृतः।
उजतदस्य यद्वैश्यः यद्भ्याम् शुद्रो जायत[79]।।

अर्थात् ब्रह्म के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरू (पेट) से वैश्य तथा पद (पैर) से शुद्रो की उत्पत्ति हुई। "मुख से ब्राह्मण की उत्पत्ति का अर्थ है कि उसकी उत्पत्ति मुख से इसलिए की गयी कि वह सारा कार्य मुख से करेगा जैसे शिक्षा प्राप्त करना शिक्षा देना, ज्ञान प्राप्त करना, ज्ञानोपदेश देना, स्तुति, प्रार्थना, देव पूजा आदि सारी धार्मिक कृत्यों के सम्पादन में मुख्य था। क्षत्रियों का कार्य राष्ट् रक्षा करना था। वैश्य का कार्य जनता के भरण–पोषण से सम्बन्धित कार्य जैसे कृषि, व्यापार पशु–पालन, का कार्य आदि तथा शूदों की उत्पत्ति पैरों से स्वीकार की गयी उनका कार्य सेवा करना था। इस प्रकार वर्ग व्यवस्था में ब्राह्मण का प्रथम स्थान रखा गया क्योंकि ब्राह्मण को प्रसन्न रखना अत्यन्त आवश्यक था। राजा के पुरोहित का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण हो गया था। एक ब्राह्मण राजा के बिना रह सकता था किन्तु एक राजा बिना पुरोहित के नहीं रह सकता था। यहाँ तक कि देवताओं को भी पुरोहित की आवश्यकता थी[80]। क्षत्रियों को प्रजा का रक्षक कहा गया है। उनके बिना

राज्य अथवा प्रजा की रक्षा संभव नहीं थी किन्तु दूसरी तरफ समाज में ब्राह्मण का स्थान सर्पोपरि होने के कारण तथा देव स्तवन यज्ञ विधान मे प्रवीणता के कारण पौरोहित्य का महत्व अपेक्षित अधिक था लेकिन ऐसी मान्यता थी कि यज्ञ के बिना देवता प्रसन्न नहीं किये जा सकते थे जो, केवल ब्राह्मण द्वारा की सम्पन्न हो सकता था।

उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मणों को देवता स्वरूप माना गया तथा उनकी पूजा की जाती थी। उन्हें पूज्य माना जाता था। ब्राह्मण जन्म से ही अन्य वर्णों की अपेक्षा श्रेष्ठ थे। शिक्षण कार्य करना पौरोहित्य तथा धार्मिक कर्त्तव्य के रूप में दान ग्रहण करना आदि कार्यों का उल्लेख विशेष अधिकारों में किया गया है। वस्तुतः दान ग्रहण करने का अधिकारी भी ब्राह्मण ही था। यही उनकी जीविका का प्रमुख साधन था।

इस प्रकार तत्कालीन समाज में ब्राह्मण का स्थान सर्वोपरि था। यहां तक कि राजा से भी ऊपर उठ गया था। राजा ब्राह्मण की आज्ञा का उलंघन नहीं कर सकता था। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार यदि राजा बिना पुरोहित के यज्ञ करे तो देवता उसके द्वारा दिये गये अन्न भक्षण नहीं करते। अतः राजा के लिए आवश्यक था कि वह ब्राह्मण पुरोहित की नियुक्ति करे। इससे स्पष्ट है कि पुरोहित ब्राह्मण ही हो सकते थे। राजसूय यज्ञों की सम्पन्नता ब्राह्मणों द्वारा ही की जा सकती थी। ऐसा भी उल्लेख प्राप्त होता है कि ब्राह्मण द्वारा प्रदत्त सत्ता से ही राजा शासन करता था।

ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा की रक्षा भी की जाती थी। समाज में ब्राह्मणों पर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं किया जाता था। ऐसी मान्यता थी कि यदि किसी राज्य में ब्राह्मणो पर अत्याचार किया जायेगा तो उसका राज्य समुद्र में टूटी नाव की तरह नष्ट हो जायेगा। इसलिए ब्राह्मण वर्ग का सभी आदर तथा सम्मान करते थें। जिस राजा के यहां राष्ट्र का गोप्ता ब्राह्मण पुरोहित होता है उसी को शक्ति प्राप्त होती है और साधारण विश भी उसी को स्वीकार करती है। अर्थात् ब्राह्मण को राष्ट्र की रक्षा करने वाला माना गया।

इस प्रकार ब्राह्मणों का महत्व अनेक कार्यो एवं अधिकारों के कारण ही इस युग में अधिक था क्योंकि प्रत्येक कार्य में ब्राह्मण का हस्तक्षेप था। राजा की नियुक्ति, शासन, धार्मिक एवं सामाजिक क्रियाये, सभी का प्रारम्भ इन्हीं के माध्यम से किया जाता था। ब्राह्मणों ने यज्ञ तथा कर्म काण्डों में विशेषता प्राप्त कर ली थी, विद्या और शिक्षा के क्षेत्र में अग्रणी बन चुके थे। बाद में उनकी विद्वता तथा श्रेष्ठता को क्षत्रियों ने ललकारा, जिससे इस कर्म की और क्षत्रियों ने जोर दिया। प्रवाहण नामक राजा ने महर्षि गौतम को गूढ़ विषयों का ज्ञान प्रदान किया। जो ज्ञान प्रवाहण राजा द्वारा दिया गया वह किसी ब्राह्मण के पास नहीं था। जब क्षत्रियों ने विद्वता में ब्राह्मणों से प्रतिस्पर्द्धा की होगी, तब ही ये उदाहरण सामने आये अन्यथा मुख्यतः पढ़ना पढ़ाना तथा धार्मिक कर्म काण्ड कराना यह कार्य ब्राह्मणों का ही था। हिन्दू समाज में निश्चय

प्राचीन काल से ही ब्राह्मणों को विशेषाधिकार प्राप्त था तथा जो सुविधायें इनको प्राप्त थी वह अन्य वर्गो को प्राप्त नहीं थी। राजनैतिक, धार्मिक बौद्धिक, आर्थिक, सामाजिक सभी क्षेत्रों में इन्हें बहुत सी सुविधायें प्राप्त थी जिससे ये सभी वर्णों में सर्वोपरि रहे तथा उनकी यह स्थिति मध्यकाल तथा अन्त काल तक बनी रही।

ब्राह्मण की शक्ति देवतुल्य मानी जाती थी। यहाँ तक कि राजा की नियुक्ति तथा अपदस्थ करना भी उनके हाथ में आ गया था। ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसे अनेक उदारहण मिलते है कि ब्राह्मणों के विरोध के कारण राजाओं को अपने सिहांसन से हाथ धोना पड़ा। राजा परीक्षित ने ब्राह्मणों के प्रति अनुचित व्यवहार किया जिसके कारण उसे गद्दी छोड़नी पड़ी। ब्राह्मण वेद प्रचार, यज्ञ–हवन, याज्ञिक कर्म काण्ड, संस्कार, वेदाध्ययन, वेदाध्यापन आदि कार्यों के लिए जनता के सम्पर्क में आते थे। समाज में इनका मान तो था ही। इनकी वाणी पर भी देवत्व का प्रभाव था। अतः राजा ब्राह्मण पुरोहित पर अत्याचार करने का साहस भी नहीं कर सकता था। अन्यथा प्रजा का विरोध भी सहना पड़ता था। यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि समय–समय पर राजा तथा सम्भ्रान्त व्यक्तियों द्वारा ब्राह्मणों का निरादार किया गया होगा तभी इस प्रकार की व्यवस्था की गई होगी।

इस प्रकार ब्राह्मणों से यदि कोई राजा द्वेष करता था तो उसका राज्य नष्ट हो जाता था। राजनरेश का पुत्र ब्राह्मणों से द्वेष के कारण नष्ट हो गया था। इस प्रकार ब्राह्मण शास्त्रज्ञ पुरोहित के रूप में समाज तथा राज्य में प्रभावशाली था। वेद विरूद्ध कार्य करना पाप समझा जाता था। इसलिए ब्राह्मण को अधिकार था कि वेद विरूद्ध आचरण करने वाले राजा को हटाकर नये राजा को अभिषेक कर सकता था। विष्णु, पुराण द्वारा ज्ञात होता है कि राजा देवापि के वेद विरूद्ध आचरण पर ब्राह्मणों ने शान्तनु को राजा बनाया। ऐतिहासिक विवरण से ऐसा ज्ञात होता है कि देवापि ने स्वेच्छा से राज त्याग किया था तथा ब्राह्मण धर्म स्वीकार किया था जिसके कारण उसने अपने भाई शान्तनु को राजा बनाया। इससे भी यही प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों की सर्वोपरिता थी क्योंकि राजत्व का त्याग किया तथा पौरोहित्य करने के लिए ब्राह्मण धर्म (पुरोहित) को अपनाया।

ब्राह्मण का यह विशेषाधिकार था कि उसे भीषण से भीषण अपराध करने पर भी अपेक्षाकृत दण्ड कम दिया जाता था। वह पूर्ण रूप से अवध्य, अवन्ध्य, अबहिष्कार्य अपरिवाद्य और अपरिहार्य था। आपस्तम्ब धर्म सूत्र के अनुसार हत्या के अपराध में चोरी के अपराध में, ब्राह्मण की आंखें जन्मभर के लिए बांध देनी चाहिए जबकि अन्य तीनों वर्गो के लोगों को प्राण दण्ड दिया जाना चाहिए। अन्य दण्ड भी ब्राह्मणों को कम दिये जाते थे यदि आर्थिक दण्ड दूसरे वर्गों पर 100 कार्षापण की दण्ड की ही व्यवस्था थी। तो ब्राह्मणो पर 50 कार्षायण की दण्ड की व्यवस्था थी।

डा० राधा कुमुद मुखर्जी का कथन है– कि यह दण्ड के अधीन था किन्तु अतः मृत्यु दण्ड नहीं दिया जाता था। ब्राह्मण विभिन्न प्रकार के कर आदि से भी मुक्त थे।

धार्मिक अनुष्ठान एवं कर्म काण्ड की जटिलता तथा पौरोहित्य

ऋग्वेद के सूक्तों में जिस कर्म काण्ड का विवरण उपलब्ध होता है उनमें उत्तर–वैदिक काल तक व्यापक परिवर्तन आ गया था जिसके कारण अनेक पुरोहितों की आवश्यकता स्वाभाविक ही थी। उत्तर वैदिक काल में कर्म काण्ड विषयक ग्रन्थों का निर्माण किया गया जिसमें कर्म–काण्ड तथा धार्मिक अनुष्ठानों का भी विस्तृत रूप प्रस्तुत किया गया। समाज के लिए यज्ञ तथा कर्म काण्ड का सम्पादन अनिवार्य बना दिया गया था जो मुख्यतः ब्राह्मण ही कर सकता था। ब्राह्मण यज्ञ का ब्रह्मा था। तथा अपनी तुलना देवताओं से करता था। उसकी वाणी देव–वाणी थी। उनके द्वारा किये गये कृत्यों का समावेश वैदिक काण्ड की जटिलता का कारण रहा, जिसको समाज नकार नहीं सकता था।

उत्तर वैदिक काल में कर्मकाण्डों तथा यज्ञों का महत्त्व इतना अधिक बढ गया था कि पुरोहितों ने प्रत्येक कार्य को यज्ञ से जोड दिया था। पुरूषार्थ की दृष्टि से मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना निर्धारित किया गया था, जिसकी साधना के लिए प्रत्येक मनुष्य का जीवन विभिन्न आश्रमों में विभाजित था। इन आश्रमों में विभिन्न प्रकार के संस्कार तथा धार्मिक अनुष्ठान व्यक्ति को सम्पन्न करने आवश्यक थे, जो पुरोहित के माध्यम से ही संभव थे। देवरत्तवन के लिए भिन्न–भिन्न ऋचाये थी जिनका सम्पादन ब्राह्मणों द्वारा किया जाता था प्रारम्भ में यज्ञ मन्त्रोच्चारण से ही समपन्न किया जाता था किन्तु बाद में मन्त्रोच्चारण के साथ–साथ हाथों का भी प्रयोग किया जाने लगा[54]। तथा आहुतियों देने का कार्य भी प्रारम्भ कर दिया गया। ब्राह्मण पुरोहित के नेतृत्व में ब्राह्मणोचित वेशभूषा के साथ ही राजन्य अथवा वैश्य यज्ञ के कार्य में भाग ले सकता था[55]। यज्ञ के समय विशेष वेशभूषा का भी प्रचलन था, जो विशेष यज्ञों में विशेष प्रकार की होती थी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कर्म काण्ड तथा अनुष्ठानों की अधिक जटिलता के कारण ही पुरोहित का महत्त्व अधिक था। अतः स्वाभाविक था कि ब्राह्मण वर्ग ने अपनी प्रमुखता बढ़ाने हेतु कर्म काण्डों का सहारा लिया। अपने ज्ञान, अनुभव तथा समाज से सम्बन्ध होने के कारण वह राजा का मार्ग निर्देशन करता था[56]। ब्राह्मण पुरोहित के महत्व का कारण यज्ञिय कर्म काण्ड था तथा इस काल में एक ऐसी श्रेणी का विकास हो गया जो यज्ञों की जटिलता की विशेषज्ञ थी। उत्तर वैदिक युग में समाज तो याज्ञिक कर्म काण्डों की ओर अग्रसर था लेकिन उस युग का राजन्य वर्ग भी दूर नहीं था। राज्याभिषेक, विजय तथा राज्य विस्तार की दृष्टि से अनेक प्रकार के यज्ञ किये जाते थे। जिनको राजा कराते थे। उत्तर वैदिक युग के राजाओं में परीक्षित के वंशज जनमेजय का वर्णन आता है जिसके सम्बन्ध में कहा गया है कि अपने आसन्दी वन में अश्वमेघ यज्ञ किया था[57]। गौपथ ब्रा० तथा कौशीत की उपनिषद् में "मत्स्य" का उल्लेख और राजा ध्वसन द्वैत वन की परिगणना उन राजाओं में की गयी जिन्होंने अश्वमेघ यज्ञ किया।

उत्तर वैदिक युग में कुरू के समान पंचाल जनपद ने भी बहुत महत्व पूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था उसके राजा कैकय पांचाल तथा शौण सात्रशाह ने अश्वमेघ यज्ञ किये थे।

"अश्वं मेध्यमाल यत क्रिवीणामति पाच्चालः
शोणः सात्रशाह ईजे पाच्चालो राजा:"[8]।"

ऐसी मान्यता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना प्रधान रूप में कुरू पांचाल जनपद में हुई जब आर्य उत्तर वैदिक काल में उन क्षेत्र में व्यवस्थित हो गये थे"[9]। वस्तुतः उत्तर वैदिक काल में कुरू तथा पांचाल कर्म काण्ड तथा चिन्तन के केन्द्र बने थे। ब्राह्मण ग्रन्थों में तत्कालीन कर्म काण्ड का विषद वर्णन है। इन ग्रन्थों में प्रति पाद्य विषय "विधि" है। वह विधि जिसके द्वारा याज्ञिक कर्म काण्ड का अनुष्ठान किया गया था। यज्ञ कब किये जाये, कैसे किये जाये तथा यज्ञ सम्पादन का किन व्यक्तियों को अधिकार है। यज्ञ के लिए किन–किन साधनों व सामग्री की आवश्यकता है अदि विषयों का इन ग्रन्थों में प्रतिपादन मिलता है।

यज्ञ सम्पादन में दान, पितृ पूजा, उर्वरता प्रदायक अनुष्ठान देवता से समीपता तथा पापों से छुटकारा दिलाने वाले माने गये हैं। सभी मनुष्यों के लिए याज्ञिक क्रिया को श्रेष्ठ बताया गया। इतना ही नहीं यह धारणा भी बलवती बनाई गयी कि यज्ञ के द्वारा देवता भी वश में हो जाते थे तथा बाध्य होकर मनुष्यों को वांछित वर प्रदान करते हैं"[10]। इस प्रकार यज्ञ मनुष्य तथा देवताओं के बीच में सम्बन्ध स्थापित करने का माध्यम था तथा यज्ञों द्वारा प्रार्थना करके देवताओं का आह्वान किया जा सकता था। इसलिए देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञों की संख्या बढ़ गयी तथा अनेक याज्ञिक प्रथायें प्रचलित हो गयी यथा–अग्नि होतृ, दर्श और पूर्णमाभास्य आग्रायण, निरूढ़ पशु बध, सौत्रामणी, पिण्ड पितृ यज्ञ, सोम यज्ञ, अग्निरटोम षोडशी, अतिरात्र ,पुरूषमेध, पंच महायज्ञ आदि तत्कालीन समाज में प्रचलित थे तथा गवा पान, वाजपेय, राजसूय और अश्वमेध जैसे यज्ञों को सम्पन्न करना प्रतिष्ठा का प्रतीक माना जाता था। अग्नि होत्र यज्ञ प्रातः तथा सांय दोनों समय किया जाता था जिसमें दूध, दही और धृत की आहुति दी जाती थी। ये यज्ञ पापों का नाश तथा स्वर्ग की ओर ले जाने वाली सर्वोत्तम नाव के सदृश्य है"[11]। दर्श तथा पूर्ण मास यज्ञ का सम्पादन पूर्णिमा तथा अमावस्या के दिन किया जाता था। चातुर्मास्य यज्ञ चार मास में सम्पन्न किया जाता था। ऐसा विश्वास था कि इनको करने से पापों से छुटकारा प्राप्त होता था। निरूढ़ पशु वध यज्ञ के अन्तर्गत पशु का वध किया जाता था"[12]। सौत्रामणी यज्ञ इष्टि एवं पशु यज्ञ का मिश्रण है"[13]। पितृ यज्ञ द्वारा बलि प्रदान कर पितरों को सन्तुष्ट किया जाता था। इस संसार में जन्म लेने के कारण मनुष्य देवताओं तथा ऋषियों और पिता का ऋणी हो जाता है। अतः इस यज्ञ द्वारा वह पितृ ऋण से उऋण हो जाता है ऐसी मान्यता है। सोम यज्ञ–सोम यज्ञ देवताओं को अर्पित किया जाता था तथा उसी से अग्नि में हवन किया जाता

था। अग्नि स्टोम यज्ञ पांच दिनों तक चलता था। वास्तव में सोम यज्ञ के अन्तर्गत सात प्रकारो में अग्निस्टोम यज्ञ प्रकृति यज्ञ था। अग्नि स्टोम, अत्याग्नि स्टोम उवथ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र एवं आप्तार्यामै[104]। पुरूषमेध यज्ञ के अनर्तगत मनुष्य की बलि दी जाती थी[105]। यह यज्ञ भी पांच दिनों तक चलता था। लेकिन आश्चर्य की बात है कि इसके अर्न्तगत मनुष्य के साथ कुछ पशु भी होते थे जिनकी मनुष्य के साथ में बलि दी जाती थी। सामान्यतः पंचमहायज्ञ संपन्न करना अति आवश्यक था। इन यज्ञों में किसी व्यवसायिक पुरोहित की आवश्यकता नहीं होती किन्तु श्रोत यज्ञों में उसकी आवश्यकता होती थी। ये यज्ञ विभिन्न प्रकार के ऋणों से मुक्त होने के लिए प्रत्येक गृहस्थ को सम्पन्न करना आवश्यक था यथा–

ब्रह्मयज्ञ : शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यह यज्ञ प्रतिदिन स्वाध्याय अर्थात् वेदाध्ययन है[106]। वैदिक ग्रन्थों का पाठ करने से सभी प्रकार से मगंलमय होता है।

देवयज्ञ : का सम्पादन अग्नि में समिधा डालने से होता है[107]।

मनुष्य यज्ञ : मनुष्य यज्ञ तथा नर यज्ञ से अर्थ है अतिथि का सत्कार या सम्मान करना था। शतपथ ब्रा० में लिखा है कि "राजा या ब्राह्मण के अतिथि रूप में रहने पर एक बैल व बकरा पकाया जाता था[108]।

पितृ यज्ञ : पितृ यज्ञ के द्वारा परलोक वासी पितरों को प्रसन्न करने तथा सुख और समृद्धि की कामना की जाती थी।

भूत यज्ञ–जब वीरों को बलि (भोजन का ग्रास या पिण्ड) दी जाती है तो वह भूत यज्ञ कहलाता है[109]।

इस प्रकार यज्ञों द्वारा जीवन को इतना धार्मिक बना दिया गया था। कि इनमें कतिपय क्रियाओं में पुरोहित का सहयोग अति आवश्यक था। कुछ ऐसे बड़े–बड़े यज्ञों के आयोजन होते थे यथा– राजा ऋतुओं के अनुसार जिन यज्ञों का सम्पादन करता था क्रमशः वैश्वदेव, वरूण प्रधास, साकमेघ लेकिन कुछ लेखकों ने शुना शारीय और चतुर्मास्य को स्वीकार किया है[110]। कुछ यज्ञ इतने बड़े होते थे जिनमें वर्षो तक पुरोहित लोग प्रार्थना, स्तुति पाठ तथा अग्निहोत्र करते रहते थे यथा– राज सूय यज्ञ जिसकों सम्पन्न करने के उपरान्त राजा गद्दी पर बैठता था। दूसरे स्थान पर वाजपेय यज्ञ, जिसको राजा अथवा शाही पुरोहित ही सम्पन्न कर सकता था। तीसरे स्थान पर सर्व मेध यज्ञ आता है[111]। डा० सत्यकेतु का कथन है कि राजसूय यज्ञ किये बिनाराजा राज पद पर सिंहासनारूढ नहीं हो सकता था[112]। इन यज्ञों को सम्पादित करने की विधियां बड़ी ही जटिल एवं खर्चीली थी। क्योंकि राजासूय यज्ञ के द्वारा राजा को सिंहासन पर सिहांसनारूढ़ किया जाता था। जिसमें राज्य के मुख्य व्यक्ति एक मत होते थे तथा पुरोहित काफी समय तक धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न करता था। इसे अमावस्या तथा पूर्णिमा की आहुतियों के साथ –साथ चर्तुमास्य यज्ञ तथा फिर रत्नियों द्वारा हवि प्रदान करना अदि पौरोहित्य कृत्य सम्पन्न करने होते थे। राज्यभिषेक के पहले ब्राह्मण कहता था "तू वीरता की योनि तथा नाभि है कोई तेरी

हिंसा न करे, न तू हम लोगों की हिंसा करे। तू विघ्नों को दूर करने वाला तथा अपनी प्रजा के लिए सुख प्रदान करने वाला हो तू सत्कर्म कर, जिससे मृत्यु से रक्षा की जा सके। सूर्य देव के प्रकाश की तरह अपनी बाँह फैला कर राष्ट्र की रक्षा कर। मै उन हाथों से जिससे राष्ट्र की रक्षा हो, बल बढ़े और इन्द्रिय शक्ति के रूप में तेरा अभिषेक करता हूं[13]। इस प्रकार की धार्मिक भावना से प्रेरित होना इस बात का परिचायक है कि सारी व्यवस्था को कर्म काण्ड ने जकड लिया था। इसी प्रकार अश्वमेघ यज्ञ का वर्णन मिलता है। जिसे राजा अपनी प्रतिष्ठा हेतु स्थापित करता था इस अवसर पर विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने के बाद अश्व छोड़ा जाता था, जो राज्य की सर्वाभौम सत्ता का प्रतीक होता था। इस यज्ञ को सम्पन्न करने हेतु सोने के सिहांसनों की आवश्यकता होती थी, जिन पर बैठ कर पुरोहित लोग अनुष्ठान करते थे तथा पाए भी सोने चान्दी के ही होते थे। इस यज्ञ को राज्य की वृद्धि एवं विस्तार के लिए किया जाता था। इस प्रकार बड़े–बडे खर्चीले यज्ञों का विधान था। एक साधारण व्यक्ति इस प्रकार के यज्ञों को सम्पादन नहीं कर सकता था।

मनुष्य का जीवन प्रारम्भ से अन्त तक धार्मिक कृत्यों के अतिरिक्त विभिन्नि संस्कारों से भी जोड़ा गया था। भिन्न–भिन्न समय पर विभिन्न कर्म काण्डों की सहायता से वे संस्कार सम्पन्न किये जाते थे। इन संस्कारों की संख्या के बारे में विद्वानों के मत निम्न हैं–

गौतम ने 40 संस्कार माने हैं तथा आठ शील गुणों का वर्णन किया है[14]। वैखावानस धर्म सूत्र द्वारा इनकी संख्या 18 बतायी गयी है। तथा कुछ शास्त्रों ने इनकी संख्या 13 मानी है[15]। कालान्तर में आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इन 16 संस्कार को मान्यता दी है[16]। धर्मशास्त्रकार जिन संस्कारों को अधिक मान्यता स्वीकार करते है। उनकी संख्या– 16 है– गर्भाधान, पुसंवन, सीमन्तोन्नपन, जात कर्म, नाम करण, निष्क्रमण अन्न प्रासन्न, चूड़ा कर्म कर्ण भेद, विधारम्भ, उपनयन, वेदारंभ, केशान्त, समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि।

वस्तुतः संस्कार में अनेक देवी देवताओं का स्मरण तथा पूजन किया जाता था तथा अग्नि के सम्मुख मन्त्रेचारण किया जाता था, जिसके द्वारा धार्मिक अनुष्ठान से जीवन परिशुद्ध होता था।

धर्म शास्त्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उत्तर वैदिक युग में यज्ञीय कर्म काण्ड सम्बन्धी प्रणाली अत्यन्त विकसित थी, जिसके कारण समाज इन प्रथाओं में पूर्णतया संलग्न था। याज्ञिक कार्य भिन्न होने के कारण तथा बड़े यज्ञों के परिणाम स्वरूप यज्ञों के आयोजन में पुरोहित वर्ग का विभाजन हुआ तथा अनेक पदों का सृजन भी किया गया[17]। यज्ञ सम्पन्न करने के लिए पुरोहित के विभिन्न रूप देखने को मिलते है–ऋत्विज, विप्र, पुरोहित ये सब पुरोहित के सहायक कहे गये हैं[18]। ये सब या तो अलग–अलग पद पर अलग कार्य करते थे या पुरोहित के सहायक

के रूप में कार्य करते रहे होंगे। डा० राधा कुमुद मुखर्जी[19] ने पुरोहितों के विभिन्न वर्ग बताये हैं यथा–

1. होता और असके सहायक–मन्त्रवरण, अच्छावाक, गावस्तु।
2. उद्गाता और उसके सहायक–प्रस्तोता, प्रतिहोता, सव्रह्मण्य।
3. अध्वर्यु और उसके सहायक–प्रतिष्ठाता, नेष्ठा और उन्नेता।
4. ब्रह्मा और उसके सहायक– ब्राह्ममणाच्छसी अग्निघ्र और पोता

सत्रहवा ऋत्विज सदस्य था जो प्रधान ऋत्विज के पद पर कार्य करता था[20]। सांख्यायन, आश्वलायन, कात्यायन श्रोत्र सूत्रों में पुरोहित के विभिन्न रूपों का जो विवरण उपलब्ध होता है वह यज्ञ तथा कर्म काण्डों की अधिक जटिलता का प्रतीक है। इससे आभास होता है कि किस प्रकार लम्बे पेचीदे और खर्चीले यज्ञों का आयोजन इनके माध्यम से किया जाता था। यज्ञ में पशु की बलि बड़ी संख्या में दी जाती थी[21]। ऐसा प्रतीत होता है कि कर्मकाण्डों की जटिलता के कारण ही यज्ञों में हिंसा का प्रादुर्भाव हुआ होगा, एक तरफ यज्ञ, आत्म शान्ति तथा समृद्धि के लिए देवी देवताओं को प्रसन्न करने का एक मात्र साधन थे, किन्तु दूसरी और पुरोहित वर्ग ने अपने स्वार्थ पूर्ति के लिए यज्ञों को अधिक से अधिक खर्चीला बनाया ताकि उन्हें अधिक धन प्राप्त हो सके।

इस प्रकार उत्तर वैदिक युग में वैदिक कर्म क्राण्डों की व्यापकता का इतना महत्त्व बढ़ गया था कि इनको सम्पन्न करना या कराना साधारण व्यक्ति के बस की बात न थी। वस्तुतः अब धार्मिक कृत्य तथा यज्ञ संभ्रान्त तथा सम्पन्न राजान्य वर्ग ही सम्पन्न कर सकते थे। इन याज्ञिक कर्म काण्डों में जो निरपराध पशुओं की बलि दी जाती थी। उसके परिणाम स्वरूप कालान्तर में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए।

संदर्भ सूची

1. डा० राधाकृष्ण–इण्डियन फिलॉसफी। हिन्दी अनुवाद। प्रथम भाग पृ० 59।
2. ऋग्वेद– 1/164, 10/129, 10/90 10/121।
3. मेन्स वेबर– रिलिजन्स आफ इण्डिया पृ० 161।
4. ऋग्वेद– 9/71/2, 10/22/8।
5. धुर्वे– वैदिक इण्डिया पृ० 205 घोष– दि सिटी इन अर्की हिसट्रीकल इ० पृ० 4।
6. ऋग्वेद 10/71/9, 8/104/13।
7. ऐतरेय वा० 40/1।
8. वैदिक इण्डेन्स अनुवादक राजकुमार भाग दो पृ० 5-6।
9. ऋग्वेद– 9/11/44।

10. आचार्य प्रियव्रत–वेदों के राजनैतिक सिद्धांत
11. ऋग्वेद म० 8सू० 9 मंत्र 20।
12. युधिष्ठिर मीमांसा– वेद वाणी पृ० 43 जनवरी 1983।
13. श्यामसुन्दर दास– हिन्दी शब्द सागर पृ० 2160।
14. ऋग्वेद 1/33/5।
15. वी० आर० दीक्षितार–हिन्दु एंड एडमिनिरट्रेटिव इनसटिब्यूसन पृ० 116।
16. सूर्य कान्त अनुवाद दि रिलिजन एण्ड फिलासफी आफ दि वेद एण्ड उपनिषद पृ० 276।
17. मिश्र जयंशकर–प्राचीन भारत का समाजिक इतिहास पृ० 687।
18. सूर्यकांत अनुवा० दि रिलीजन एण्ड फिलासफी आफ दि वेद एण्ड उपनिषद पृ० 281।
19. राम कुमार राय– वैदिक इण्डेन्क पृ० 6।
20. आर० सी० मजूमदार– वैदिक एज पे० 456।
21. शर्मा– पूर्व मध्य कालीन भारत में समाजिक परिवर्तन पृ० 8।
22. निरूक्त 2/10।
23. मिश्र जयशंकर प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास पृ० 30।
24. धुर्ये– कास्ट, क्लास एण्ड आकु० पृ० 40।
25. ए० वी० अनुवादक सूर्यकान्त वैदिक कर्म एवं दर्शन भाग 2 पृ० 389।
26. ऋग्वेद–कृण्वन्तों विश्वम् आर्यम् 9/63/5।
27. मिश्र जयंशकर–प्राचीन भारत सामाजिक इतिहास पृ० 66।
28. पं० उदयवीर शास्त्री– वैदिक इन्दु पृ० 34 नवम्बर 1966 वाराणसी
29. अथर्ववेद–3/19/2।
30. अथर्ववेद–3/19/2।
31. ऋग्वेद– 7/60/12/, 8/3/4/।
32. ऋग्वेद– 7/60/12/, 8/3/4/।
33. अमरकोष 2/8/5।
34. हिन्दू धर्म कोष।
35. हिन्दू धर्म कोष।
36. ऋग्वेद–गायत्री त्वाम्।
37. ए० वी०– (राजकुमार) वैदिक इण्डेस भाग 2 पृ०7।
38. आर० सी० मजूमदार– वैदिक ऐज पृ० 456।
39. स इन्द्रा जा प्रति जन्यानि वर्ग विश्व शुष्मेण तस्थौ अभी वोर्येण।
40. सूर्य कान्त– वैदिक को० पृ० 299।

41. ए० वी०– अनुवाद राम कुमार राय वैदिक इण्डेक्स पृ० 7 भाग2।
42. सूर्य कांत– वैदिक कोष पृ० 347।
43. डा० राधा कुमुद मुखर्जी– "हिन्दू सम्यता "पृ० 98।
44. ऋग्वेद–9/108, 1/105/15।
    इन्दम् मित्रं वरूणमग्निमाहुरथो दिव्यः सः सुपर्णो गरूत्मान्।
45. ऋग्वेद 1.1 एक सदविप्राः वहुधा वदन्ति अग्निं यनं मातरिश्वान माहुः।।
46. ऋग्वेद– यस्मान्नृते विजयन्ते जानसं यं यध्यमाना अवसे हवन्ते।
    यो विश्वस्य प्रतिमानं वभूव याऽच्युतच्युत्सजनास इन्द्रः।।
47. मिश्र जयशंकर– प्राचीन भारत सामाजिक इतिहास पृ० 674।
48. ऋग्वेद –अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजानः व या वयं यकृमा तनूभिः।
49. ऋग्वेद 7/11/4, 8/43/40, 2/1/14 1/26/6।
50. मिश्र शंकर– प्राचीन भारत सामाजिक इतिहास पृ० 686।
51. हट्टन–कास्ट इन इण्डिया पृ० 131-32।
52. ऋग्वेद– 2 2, 10/1/3।
53. श० ब्रा० यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म 1/7/3/5।
54. ऋग्वेद– 3/53/12/; 1/129/4/; 1/152/7/; 7/84/4।
55. राधा कुमुद मुखर्जी– हिन्दू सभ्यता पृ० 86 दिल्ली–1966।
56. डा० सूर्यकांत अनुवादक दि रिलीजन एण्ड फिलासफी आफ दि वेद एण्ड उपनिषद पृ० 279।
57. रामकुमार राय– अनुवादक ए० वी० कीथ वैदिक इण्डेक्स भाग 2 पृ० 96।
58. निरूक्त –यास्क 2/24।
59. स्वामी वेदानन्द–स्वाध्याय सन्दोह पृ० 181-82।
60. ऋग्वेद–10/71/9; 64/49; 6/79/10 आदि।
61. डा० सत्यकेतु–प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राज शास्त्र पृ० 249।
62. राजकुमार राय–अनुवादक ए० वी० कीथ–वैदिक इन्डेल्स भाग 2 पृ० 6।
63. विश्वे देवा अदितिः पंचजना आदिति र्जातमदितिर्जनित्वम् ऋ० 1/89/10।
64. अस्माकं द्युम्नमधि पंच कृष्टिश्चा स्वर्ग शुशुचात दृष्टरम्– ऋ० 2/2/10।
65. डा० सत्यकतु–प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग पृ० 199।
66. शतं वासे––––––––– देवा गोपाः । ऋ०8/46/32।
67. अथर्ववेद– 3/5/7 (2) व्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरूद्भ्यो वैश्य तपसे शूद्र य० 31, 3/5।
68. तै० सं० 1/7/31।

69. अथर्ववेद– 5/19/8/19।
70. ऐ० ब्रा० 8/17/5।
71. डा० अल्तेकर प्राचीन भारतीय पद्धति पृ० 120।
72. तै० सं०।
73. डा० सत्येकतु–प्रा०भा० शासन संस्थायें एवं राजनैतिक विचार पृ०47।
74. श० प० ब्रा० 5/3/1/1/।
75. पंचचविंश ब्रा०– अष्टौ वै––––––––– वीराराष्ट्र समघच्छन्ति श० ब्रा० 19/।
76. न ह्वा अपुरोहितस्य राज्ञो देवाः अन्नं मदन्ति तस्माद्राजा यक्ष्याणो ब्राह्मणं पुरोदधीत देवा मे अन्नम् अदन्ति।" ऐ० ब्रा० 40। अ०
77. राजबली पाण्डेय– भारतीय इतिहास की भूमिका पृ० 66।
78. डा० राधा कुमुद मुखर्जी– हिन्दू सभ्यता पृ० 98।
79. ऋग्वेद 10/90/12।
80. तैत्तिरीय सं० 2/5/1/1।
81. तै० ब्रा० 3/7/3।
82. पी० वी० काणे– धर्म शास्त्र का इतिहास भाग। पृ० 156।
83. "न हवा अपुरोहितस्य राज्ञो देवा अन्नभदन्ति तस्माद्राजाक्ष्यमाणो राजा ब्राह्मण् पुरोधीत"। ऐ० ब्रा० अ० 40।
84. अथर्ववेद– 5/19/8/15।
85. ऐ० ब्रा० 40/2।
86. सह गौतमो राज्ञों धंमेयाय तर मैह प्राप्ताया हांच्च कार सह प्रातः छान्दोग्य उ० 5/3/6।
87. डा० सत्यकेतु– प्राचीन भारत की शासन संस्थायें तथा राजीतिक विचार पृ० 57।
88. ते चापि तने बुद्धि मोहेऽभिभूयमाना ब्रह्मद्वेषो धर्मत्यागिनो वेद वाद पारङ्मुखा बमूवुः।। ततस्यानयेत धर्माचारानिन्दो जधान–विष्णु पुराण 14/9/20-21।
89. विष्णु पुराण4/20/28-29।
90. ब्रह्महत्यायै प्रायशिचत्तिः शतपथ ब्रा० 13/3/5/4।
91. आ० ध० सू० 2/10/27, 16-17 चक्षुनिरोधस्त्वेतेषु ब्राह्मणस्य
92. द्विजातिनामध्ययनमिज्या दान्म गो० ध० सू० 11/2।
93. डा० राधा कुमुद मुखर्जी –हिन्दू सभ्यता– (अनु० वासुदेव शरण अ०) पृ० 177।
94. ऋग्वेद– 1/2/9/2।

95. ऐतरेय ब्रा० 7/19/14।
96. वोधायन धर्म सू० 1/10/18 7-8 जे० ए० ओ० एस० 13-152।
97. जनमेजय हरिस्त्रमें। अवध्नात् अश्वं देवेभ्यों जनमे जय इति।। श०ब्रा० 13/5/4/1।
98. शतपथ ब्रा० 13/5/4/6, 16।
99. डा० सम्यकेतु– प्राचीन भारतीय शासन वयवस्था और राजतन्त्र पृ० 60/191।
100. पंचविशः ब्रा० – 1/8/4/1।
101. शतपथ ब्रा० अच्युत ग्रन्थमाला । पृ० 191।
102. आश्वलापन ब्रा०– 11/13।
103 A शतपथ ब्रा० 12/7/2/10।
104. ला०– 5/2/34।
105. शतपथ ब्रा० 13/6/2/1 यदस्मिन् मेध्यान्यु यषानालीते तस्मादेव पुरूषमेघः।
106. शतपथ ब्रा 11/5/6/3-8।
107. तैत्तिरीय सं 2-10।
108. शतपथ ब्राह्मण3/4/1/2।
109. पी० वी० काणो–धर्म शास्त्र का इतिहास भाग प्रथम पृ० 383।
110. पी० वी० काणे–धर्म शास्त्र का इतिहास भाग प्रथम पृ० 383।
111. के० पी० जायसवाल–हिन्दू पालिटी पृ० 199।
112. डा० सत्यकेतु–प्रा० भा० इतिहास का वैदिक युग पृ० 281।
113. यजुर्वेद 20/1/4।
114. गो० घ० सू० इत्येते चत्वारि०
115. मिश्र जयशंकर–प्रा० भा० का इतिहास पृ० 289 ।
116. महर्षि दयानन्द संस्कार विधि
117. डा० सत्यकेतु–प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग पृ० 281।
118. आर० सी० मजूमदार–वैदिक एज पृ० 377।
119. डा० राधा कुमुद मुखर्जी–हिन्दू सम्यता पृ० 132।
120. डा० राधा कुमुद मुखर्जी–हिन्दू सभ्यता पृ० 132।
121. राजबलि पाण्डेय–भारतीय इतिहास की भूमिका–पृ० 70।

2

प्राङ् मौर्य युग में पौरोहित्य

भारतीय संस्कृति प्रारम्भ से ही क्रियाशील रही है। अतः उसमें परिवर्तन होना स्वाभाविक ही था। उत्तर वैदिक काल के पश्चात् तथा मौर्य साम्राज्य की स्थापना के पूर्व की अवधि में भारतीयों ने न केवल सांस्कृतिक धारा की निरंतरता को यथावत रखा अपितु उन्होंने सांस्कृतिक, परिपक्वता भी ग्रहण की। स्वयं को परिस्थितियों के अनुरूप ढालना भारतीय संस्कृति की एक विशेषता रही है।

ऐतिहासिक दृष्टि से प्राड़मौर्य काल में मुख्य रूप से सूत्र काव्य, महाकाव्य काल तथा छठी शताब्दी ई० पू० में धार्मिक क्रांन्ति के युग की गणना की जाती है। उत्तर वैदिक काल में विकास हुआ, आर्थिक जीवन उन्नत हुआ वहीं दूसरी तरफ इसके प्रभाव से सांस्कृतिक मूल्यों की अभिवृद्धि भी हुई। वस्तुतः उत्तर वैदिक युग में कर्म—काण्डीय जटिलता, नियमों तथा अर्थ की विशिष्टता इतनी बढ़ गयी थी कि स्वयं पुरोहितों के लिए भी उनका समझना और सम्पादन करना अत्यन्त कठिन हो गया। यह अनुभव किया जाने लगा कि इन्हें क्रमवद्ध करके लिखित रूप दिया ज़ाये। परिणामस्वरूप संक्षिप्त नियमों के रूप में रचे गये ग्रन्थ सूत्र कहलाये। इन ग्रन्थों की प्रमुख उपलब्धि यहीं थी कि इनमें गंभीर और जटिल नियमोंको सरल रूप में प्रतिपादित किया गया। जीवन के प्रायः सभी विषयों यथा सस्कारों तथा धार्मिक अनुष्ठानों की सूत्रों में विषद व्याख्या तथा परियोजन किया। इनसे तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक दशा विशेषाकार विवेच्य विषय पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है। प्राड़ मौर्य युग में महाकाव्यों रामायण तथा महाभारत की रचना हुई। इनमें तत्कालीन समाज के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक विषयों का विवरण व्योरे वार दिया गया है। इनका महत्व भी ऐतिहासिक है। इनका अध्ययन करने से हिन्दू राजनीति का मुख्य रूप से ज्ञान प्राप्त होता है। इसमें धार्मिक उपदेश भी होते हैं। महाभारत को पंचम वेद, धर्मशास्त्र, मोक्ष शास्त्र तथा अर्थशास्त्र भी कहा गया। पौरोहित्य की महत्ता तथा कार्य एवं योग्यता पर इन महाकाव्यों में विस्तृत व्याख्या है। जटिल कर्म काण्ड तथा वर्ग गत भेंदों के बढ़ते स्वरूप के दुष्परिणाम की विस्तृत व्याख्या है। जटिल कर्म काण्ड तथा वर्णगत भेंदों के बढ़ते स्वरूप के दुष्परिणाम से महाकाव्य कालीन विचारक परिचित हो गया था। उसे आशंका हो गई थी कि यह व्यवस्था अब अधिक दिन जीवित रहने वाली नहीं है। इनका स्पष्ट संकेत हमें

अनुशासन पर्व के इस उद्वरण से होता है जहां कहा गया है कि न जन्म से कुछ होता है, न यज्ञ से, न ज्ञान से, चरित्र ही वास्तविक चीज है। जो मनुष्य को मर्यादा में बांध देता है।

सूत्र साहित्य में पौरोहित्य

उत्तर वैदिक काल में कर्म काण्ड सम्बन्धी जिस साहित्य की रचना हुई, उसमें सूत्र साहित्य प्रधान है। सूत्र रूप में लिखे जाने के कारण इस साहित्य को सूत्र कहा गया। इसके चार भाग हैं।—श्रोत्र सूत्र, गृह्य सूत्र, धर्म सूत्र और शुल्ब सूत्र। सबको सम्मिलित रूप से कल्प सूत्र कहा गया। प्रत्येक वेद के अपने कल्प सूत्र थे। इनमें बहुत सा सूत्र साहित्य तो नष्ट हो चुका है, जो इस समय उपलब्ध नहीं है। जो साहित्य उपलब्ध होता है, उसके आधार पर नीचे विवेचना की जा रही है।

सूत्र साहित्य का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि उस युग मे ब्राह्मणों का अधिक महत्व और आदर था, यज्ञों की संख्या में वृद्धि थी ओर वर्ण भेद का अधिक विकास हुआ था। याज्ञिक कर्म काण्ड की अधिकता के कारण याज्ञिकों, पुरोहितों तथा ब्राह्मणों का महत्व बढ़ रहा था। वर्ण भेद के कारण ब्राह्मण अपने को क्षत्रियों की अपेक्षा अधिक सबल तथा योग्य मानता था। ब्राह्मणों की समाज में इतनी प्रतिष्ठा थी कि सामान्य जनता तो क्या राजा भी ब्राह्मण को आता देखकर मार्ग छोड़ देता था[1]। उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मण वर्ग ने समाज में जो प्रतिष्ठा अर्जित की थी वह इस काल में भी यथावत थी। यदि यह कहा जाये कि इसमें वृद्धि हुई तो अतिश्योक्ति न होगी।

यद्यपि सूत्र साहित्य के अनुसार वर्ण व्यवस्था जन्म एवं वंशानुगत थी किन्तु कार्य क्षेत्र में ब्राह्मण आपत्ति काल में दूसरे कार्य क्षत्रिय या वैश्य का कार्य कर सकता था। चारों वर्णो में इसका स्थान सबसे ऊँचा था[2]। आपस्तम्ब धर्म सूत्र में उल्लेख मिलता है कि 10 वर्ष का ब्राह्मण का बालक भी 100 वर्ष के क्षत्रिय से कहीं ज्यादा श्रेष्ठ है तथा वह क्षत्रिय के पिता के समान है[3]। यह इस बात का प्रतीक है कि ब्राह्मण का समाज में कितना अधिक मान सम्मान था किन्तु यह सम्मान उन्हीं ब्राह्मणों का था जो चरित्रवान थे, पवित्र आचरण वाले थे, विद्वान थे, यज्ञाविधानों के ज्ञाता थे और सात्विक जीवन व्यतीत करते थे। उस समय के लिहाज से ब्राह्मण की यह स्थिति ठीक थी क्योंकि जो विद्वान, चरित्रवान और संयमी था, वही ब्राह्मण था। परन्तु उत्तरवर्ती काल में भ्रष्ट और चरित्रहीन व्यक्ति भी जो ब्राह्मण कुल में जन्में अपने को ब्राह्मण कहकर इन सुविधाओं का उपयोग करने लगे तथा समाज में भ्रष्टाचार को फैलाने के कारण बने। सूत्र साहित्य की रचना के समय ब्राह्मण मृत्यु दण्ड से मुक्त रहा। क्योंकि वह देव तुल्य श्रेष्ठ एवं पवित्र था। गौतम धर्म के अनुसार ब्राह्मण पूर्ण रूपेण अवध्य, अदण्डय, अबहिष्कार्य अपरिवाद्य तथा अपरिहार्य है[4]। इस प्रकार ब्राह्मण को मृत्यु दण्ड नहीं दिया जा सकता था। इसी परिपेक्ष्य में बोधायन धर्म सूत्र कहता है कि पुरोहित अवध्य है, लेकिन ब्रह्म हत्या, गुरू तुल्य गमन, सुवर्ण स्तेय,

सुरापान आदि गम्भीर अपराध यदि किसी ब्राह्मण में है तो उस ब्राह्मण को गर्म लोहे से उसके मत्थे पर दाग लगाना चाहिए। उसके बाद उसे निर्वासित किया जाये'। इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि दुष्ट ब्राह्मण को उस युग में भी दण्डनीय और निन्दनीय समझा तो गया किन्तु फिर भी मृत्यु - दण्ड से वह मुक्त था। मृत्यु दण्ड इसलिए नहीं दिया जाता होगा क्योंकि वह देव तुल्य माना गया। पतित होने पर उसका समाज द्वारा बहिष्कार मृत्यु दण्ड से भी भंयकर था, जो उसकी धृणित दशा का वर्णन करता है।

श्रौत सूत्रों के अन्तर्गत याज्ञिक क्रिया तथा याज्ञिक विधि विधानों का उल्लेख हुआ है। इनका सम्पादन ब्राह्मण , पुरोहितों द्वारा किया जाना आवश्यक था। याज्ञिक महत्व के कारण पुरोहित द्वारा सम्पादित कर्म काण्ड साधरण जनता से लेकर राजा तक सम्बन्धित थे। सिंहासना रूढ होने पर राजा प्रायः राजसूय यज्ञ सम्पन्न करते थे। यह यज्ञ क्षत्रियों द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता था। लेकिन इस यज्ञ में पुरोहित, सेनापति, महारानी सूत, ग्रामीण, क्षत्ता, संग्रहीता अक्षावाय गोविकर्ता, दूत या पालागल एवं परिवृत्ति राजा का चयन करते थे। इस सारे कर्म काण्ड का संचालन पुरोहित द्वारा किया जाता था। यज्ञ सम्पन्न होने पर पुरोहित घोषणा करता था "वह भरतों का राजा है, कुल का राजा है"।"जनता भी उसी प्रकार कहती है। अन्य क्रियाओं के साथ वह धोषणा करता था उसके बाद सभी लोग राजा को स्वीकार करते थे। इस प्रकार विशाल यज्ञों का विस्तार पूर्वक उल्लेख हमें सूत्र साहित्य से प्राप्त होता है। जैसे अग्नियों के चयन पर, अग्नि होतृ पर, दर्श तथा पूर्ण मास आर्तव यज्ञों पर, पशु मेध पर तथा सोम यज्ञों पर पुरोहित का कार्य बढ़ जाता था। क्योंकि प्रायः इन यज्ञों में समय बहुत लगता था जिनके लिए कई प्रकार की धार्मिक क्रियायें सम्पन्न होती थी। गौतम तथा लाट्यायन द्वारा सोम यज्ञ सात भागों में विभक्त किया गया–अग्नि स्टोम, अत्याग्नि स्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतरात्र एवं आप्तोर्याम'।

कुछ ऐसे भी यज्ञों का विवरण प्राप्त होता है जिनका सम्बन्ध ऋतु या समय विशेष से होता था चर्तुमास्य, तुराण, दाक्षायण के अतिरिक्त अन्य यज्ञाष्टियां भी हैं। इन सभी यज्ञों को सम्पादन करने की विधियां अलग–अलग है। जिनका संचालन करने के लिए योग्य पुरोहित की आवश्यकता होती थी तथा अन्य पुरोहितों की भी बड़े–बड़े यज्ञों में आवश्यकता होती थी, इसके अलग–अलग पदों की स्थापना हुई। यज्ञों में मुख्य पुरोहित तथा अन्य उसके सहायकों का वर्णन आता है। आश्वलायन तथा अपरतम्ब श्रोत सूत्र के अनुसार–होता, अध्वर्य ब्रह्मा एवं उदगाता इन चार प्रमुख पुरोहितों का वर्णन है। अन्य सहायकों की संख्या 12 की है'। इस प्रकार 16 पुरोहित स्वीकार किये गये। संख्या कोई भी रही हो, लेकिन इतना अवश्य है कि बड़े–बडे यज्ञों के आयोजन में कई पुरोहितों की आवश्यकता होती थी।

सूत्र युग में पुरोहितों ने यज्ञों का विस्तार इतना किया कि राजा के राज्य से लेकर किसान के खेत बोने तक में धार्मिक कृत्यों का समावेश हो गया। मानव के

सुवह उठने से लेकर सोने तक के कार्य को कर्म काण्ड वद्ध किया गया। गौतम धर्म सूत्र में एक स्थान पर उल्लेख मिलता है कि यदि ब्रह्मचारी सूर्य निकल आने पर उठता है तो वह पूरा दिन बिना खाये पिये प्रायश्चित करे तथा पूरा दिन गायत्री मन्त्र का जाप करता रहे[9]। आपस्तम्ब[10] धर्म सूत्र में दैनिक क्रियाओं का विवरण प्राप्त होता है। इसमें मल, मूत्र त्याग, दन्त धावन, आचमन स्थान तर्पण, वस्त्र धारण, तिलक या चिन्ह अंकन, होम आदि का विस्तृत वर्णन किया है। इनमें धर्म को मुख्य रखा गया अर्थात इन कार्यों को भी धर्म से जोड़ा गया। इतना ही नहीं प्रत्येक गृहस्थ के लिए पंच महायज्ञों का विधान था। इन महायज्ञों में उल्लेखनीय है जो हुत, अहुत, प्रहुत और प्राशित शाखायन गृह सूत्र में–अग्नि होत्र (देव यज्ञ) वलि (भूत यज्ञ), पितृ यज्ञ एवं वाह्य–हुत (मनुष्य यज्ञ) के रूप में वर्णित हैं[11]। इनको सम्पन्न करना प्रत्येक गृहस्थ का नैतिक तथा धार्मिक कर्त्तव्य था। इनका सम्पन्न न करना पाप था तथा देवी–देवताओं को अप्रसन्न करना माना जाता था।

जीवन संस्कारित था पुरोहितों द्वारा मन्त्रोच्चारण के साथ संस्कारों को सम्पादन किया जाता था। गृह सूत्रों में संस्कारों का वर्णन दो अनुक्रमों में हुआ। अधिकाशतः ये संस्कार विवाह से प्रारम्भ होकर समावर्तन तक चले जाते है। हिरण्यकेशी गृह्य सूत्र, भारद्वाज गृह्यसूत्र एवं मानव गृह्यसूत्र में संस्कार उपनयन से प्रारम्भ माने गये है[12]। गृह सूत्रों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उनमें जिन संस्कारों का वर्णन किया गया है, उनमें पूर्ण कर्म–काण्ड एवं अनुष्ठानों की वहुलता जैसे जात कर्म से लेकर चूड़ा कर्म तक के संस्कारों के कृत्यों द्विजातियों के पुरूषों के संस्कारों, वैदिक मन्त्रों द्वारा तथा नारियों के संस्कार बिना वैदिक मन्त्र के लिए जाते थे[13] इस तरह वर्ग व्यवस्था में भेद स्थापित करने के साथ–साथ नारी तथा पुरूषों के संस्कारों में भी अन्तर स्थापित किया गया। जिसमें पुरूष तथा नारी के मध्य ऊंच नीच की भावना उत्पन्न हो गयी।

समाज में इस प्रकार के संस्कारों का विकास हुआ जिनमें रूढ़िवादिता तथा कर्मकाण्ड का प्रभाव अधिक था जैसे कि कर्णवेध संस्कार सातवे या आठवें मास में होना चाहिए[14]। अन्य क्रियाओं का सम्पादन जैसे यज्ञ, दान, भोजन आदि की व्यवस्था तथा अन्त में ब्राह्मण का परिवार सहित आदर करने हेतु दान किया जाना आदि।

आश्व लायन गृह्यसूत्र में पाक यज्ञ का विवरण उपलब्ध होता है जो निम्न प्रकार है–

(1) **हुत** : अग्नि में किये गये यज्ञ

(2) **प्रहुत** : वे यज्ञ जो अग्नि में नहीं किये जाते यथा बलि हरण प्रभूति ब्रह्म।

(3) **जिह्हुत** : ब्राह्ममण भोजन को कहते हैं[15]।

इनको सम्पन्न करने से ऐसी मान्यता थी कि गृहस्थ तो क्या सभी प्राणी मात्र का जीवन सफल होता था तथा इन यज्ञों द्वारा पुरोहित मनुष्यों के मस्तिष्क का परिमार्जन करता था। ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में मनुष्य के मस्तिष्क को

ही नहीं अपितु जीवन के हर पहलू को महत्व प्रदान किया गया। प्रत्येक ऋतु में वैश्वानमी, क्रावमति तथा परिवेष्टि करने वाले के कुल की दस पीढियां शुद्ध हो जाती हैं[16]। कतिपय इस प्रकार के विधानों का प्रतिपादन भी मिलता है। कि बहुत सी वस्तुयें जल प्रसेचन क्रिया से ही शुद्ध एवं परिमार्जित हो जाती थी। यदि किन्हीं कारणों से वस्त्र तथा अनाज का ढेर अशुद्ध माना गया। क्योंकि अशुद्ध बताने वाला भी पुरोहित वर्ग ही था तथा शुद्ध करने वाला भी वही ब्राह्मण होता था मन्त्र पाठ के साथ–साथ जल छिडक देने मात्र से ही वह अनाज का ढेर पवित्र हो जाता था[17]। लेकिन समय–समय तथा अलग–अलग वस्तुओं में एक ही युक्ति काम में नहीं लायी जाती थी। यदि भोजन में केश या नख गिर जाये तो वह भोजन त्याज्य होगा[18]। उक्त विवरण से ज्ञात होता है कि एक ही प्रकार के कर्म काण्ड से प्रत्येक वस्तु का शुद्धिकरण नहीं किया जा सकता था। उनके लिए अलग–अलग विधान तथा नियम प्रतिपादित किये गये थे। कुछ कर्म–काण्ड दान पर आधारित थे। जो ज्यादा धन देगा उतना अधिक पवित्र माना जायेगा। विभिन्न कर्म काण्डों के लिए धन की दरें भी तय की गयी थी, जिन्हें पुरोहित यज्ञमान से वसूल लेता था। इससे व्यक्ति तथा वस्तु का शुद्धीकरण हो जाता था।

इस प्रकार का उल्लेख भी सूत्र साहित्य द्वारा ज्ञात होता है कि होम जप, दान तथा उपवास से अनेकों पाप नष्ट हो जाते हैं। ब्राह्मण पुरोहितों का कार्य इतना व्यापक था कि यदि किसी व्यक्ति से कोई पाप हो जाता था तो वे उनका प्रायश्चित कराते थे, ऐसे आडम्बर या मन्त्र तन्त्रों की रचना की थी जिनके द्वारा सभी प्रकार के पापों से छुटकारा दिलाया जा सकता था। सूत्र ग्रन्थों में पापों की विस्तृत विवेचना की गयी है। जिनके निवारणार्थ विभिन्न कर्म--काण्डों की आवश्यकता थी। इनके दो विभेद प्राप्त होते हैं–

(1) **पतनीय पाप**– स्वर्ण स्तेय, अभिशस्त (लांच्छित) करने वाला पाप, उपेक्षा या प्रसाद के कारण वैदिक विद्या का ह्रास, भ्रूण, हत्या, एक ही गर्भ से उत्पन्न सम्बन्धियों से व्याभिचार–संसर्ग, सुरापान, वर्जित लोगों से संभोग सम्बन्ध, गुरू या आचार्यो की पत्नी से संभोग प्रभृति अनैतिक कृत्य[19]।

(2) **अशुचि कर पाप**– अशुचि कर पापों की गणना निम्न प्रकार की गयी आर्य नारी का शुद्र द्वारा संभोग, कुते, ग्राम, कुकुट प्रभृति वर्जित पशुओं का मांस भक्षण, अपात्र स्त्रियों से आर्यो का संभोग[20]।

वेदयज्ञ या सोमयाज्ञ के लिए दीक्षित या क्षत्रिय का हत्यारा, सामान्य ब्राह्मण का हत्यारा, ब्राह्मण के भ्रूण का हत्यारा तथा आत्रेयी (रजस्वला) का हत्यारा अभिशस्त्रों की कोटि में आते हैं[21]। बौधायन धर्म सूत्र में पापियों की तीन श्रेणियाँ वर्णित हैं यथा–

(1) एनस्वी
(2) महापातकी
(3) उपपातकी

इस प्रकार विभिन्न पापों की कोटियां निर्धारित की गयी थी, जिनको दूर करना आवश्यक था तथा उनको दूर करने के विशेष आयोजन तथा प्रायश्चित किये जाते थे। जिनको सम्पन्न करके इन पापों के कष्टों से मनुष्य बच सकता था। अन्यथा वह नरकगामी होता था तथा सामाजिक प्रतिष्ठा खो बैठता था। "पाप" भूल वश क्रोध वश या लालच वश हो जाते थे जिनका निराकरण पुरोहित अपने कर्म काण्ड से कर देता था। पुरोहित का कार्य श्रोत स्मार्त कृत्य तथा अपराधियों के लिए उचित प्रायश्चित की व्यवस्था करना था। ऐसा भी उल्लेख किया गया है कि यदि किसी राजा ने भूलवश किसी अपराधी को मुक्त कर दिया और उसे कोई दण्ड न दिया अथवा किसी निरापराधी को दण्डित कर दिया गया तो इस प्रकार के पाप के लिए राजा तथा पुरोहित दोनों को तीन दिन का उपवास करने का विधान था। सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यों के अतिरिक्त पुरोहित न्यायिक कार्य भी करता था। इस अवस्था में राजा के दोषी होने पर नैतिक व धार्मिक दृष्टि से वह भी पाप का भागीदार होता था अतः पाप का प्रायश्चित उसे भी करना अपेक्षित था।

सामान्य मनुष्य की अपेक्षा ब्राह्मण दण्ड की परिधि से मुक्त थे। उनको छः प्रकार के दण्डों से परे रखा गया था। गो० ध० सू० के अनुसार ये दण्ड निम्न है–

(1) उन्हें पीटा न जाये
(2) उन्हे हथकडी न लगायी जाये।
(3) उन्हें धनदण्ड न दिया जाय।
(4) उन्हे ग्राम या देश से न निकाला जाये।
(5) उनकी भर्त्सना न की जाये।
(6) उन्हें त्यागा न जाये।

यह दण्ड विधान के अन्तर्गत था कि उनको दण्ड न दिया जाये। तथा उनके लिए सरल दण्ड की व्यवस्था थी। शासन को धर्मानुकूल चलाने के लिए पुरोहितों की नियुक्तियाँ अति आवश्यक थी। राजा के लिए भी यह भी आवश्यक था कि वह धर्म, अर्थ तथा नीती में पारंगत ब्राह्मण को अपना पौरोहित्य कार्यभार सौंप दे। यह एक ऐसा पद था जिसके द्वारा धर्म की स्थापना होती थी। गौतम सूत्र ने राजा और विद्वान ब्राह्मण (पुरोहित) दोनों से संसार में धर्म की स्थापना की। इस प्रकार सूत्र साहित्य में पुरोहित का स्थान धर्म की स्थापना मे तथा राजा के साथ था। क्षत्रिय का शक्तिशाली होना उसके पुरोहित के ऊपर निर्भर करता था वह तथा उसका शासन पौरोहित्य के मार्ग निर्देशन में प्रगति करता था।

इस युग में पुरोहित का कार्य केवल यज्ञों तक ही सीमित न था। सूत्र युगीन पुरोहित राजा की सारी विपत्तियों में साथ था। वह युद्ध में भी राजा के साथ होता था। प्रशासन व्यवस्था तथा युद्ध कौशल का भी वह ज्ञाता होता था। ग्रन्थो द्वारा ज्ञात होता है कि पुरोहित राजा को युद्ध में जाने हेतु पूर्ण तैयारी कराता था तथा आवश्यक

कर्म काण्ड सम्पन्न करता था। जिससे राजा की विजय निश्चित की जा सके। इसलिए वह युद्ध भूमि में राजा के साथ ही रहता था[26]।

ऐसा भी प्रतीत होता है कि सभी ब्राह्मण पुरोहित नहीं थे। पुरोहित में भी जो राजपुरोहित होता था, उसका पद ऊँचा था। राजपुरोहित की नियुक्ति के समय कर्मकाण्ड किया जाता था। जिसके द्वारा पुरोहित की नियुक्ति होती थी, जो याज्ञिक कृत्य किया जाता था, उसे वृहस्पतिसव के नाम से पुकारा गया है[27]।

डा० अल्तेकर भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि पुरोहित की नियुक्ति पर कर्म काण्ड किया जाता था अन्य रत्नियों की नियुक्ति के लिए ऐसा कोई आयोजन नहीं था। उनका कथन है– "मन्त्रियों में केवल पुरोहित ही ऐसा था, जिसके पद ग्रहण के समय एक वैदिक विधि विहित थी। उसका नाम "वृहस्पतिसव" था[28]।

प्राचीन काल में राजा तथा पुरोहित पद के लिए यज्ञों का आयोजन होता था। पुरोहित की नियुक्ति हेतु सचरित्र, कुलीन, उच्च व्यक्तित्व, शील, गम्भीर तथा विद्वता आदि गुण अनिवार्य थे। वेदों में पांरगत होना तथा कौशल भी अपेक्षित था। राजा पुरोहित का अनादर करने का साहस नहीं कर सकता था क्योंकि पुरोहित पूजनीय था। यहां तक कि विद्वान ब्राह्मण का भी सर्वत्र आदर किया जाता था[29]। समाज की समस्त धार्मिक क्रियाओं का संचालन पुरोहित के द्वारा ही होता था। बड़े यज्ञों के आयोजनों में तथा श्रोत यज्ञों में पौरोहित्य प्रथा का महत्व अधिक बढ़ गया था। इन यज्ञों में प्रभूत मात्रा में दान दक्षिणा पुरोहितों को प्राप्त होती थी। कुछ वर्ग तो ऐसे थे जो दक्षिणा पर ही निर्भर थे। सभी प्रकार के दानों में जल का प्रयोग होता था। केवल वैदिक यज्ञों को छोड़कर जिनमें वैदिक कृत्य किये जाते हैं। यज्ञमान अंजलि में जल लेकर संकल्प करके दान देता था। दान देने में अलग से दक्षिणा देना भी अनिवार्य था[30]। ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिणा के रूप में जो धन ब्राह्मणों को प्राप्त होता था, उससे वे अपनी जीविका चलाते थे। दक्षिणा से रूप में जेष्ठ पुत्र को छोड़कर सभी सम्पति दी जा सकती थी। एक हजार पशु या सारी सम्पत्ति दान करने पर उनके साथ एक खच्चर देने का भी विधान था[31]। इस प्रकार सूत्र काल में दान में पशु भी दिये जाते थे। कात्यायन के अनुसार प्रतिहर्ता नामक पुरोहित को अन्त में दक्षिणा देने का विवरण प्राप्त होता है[32]। पुरोहितों द्वारा श्राद्धो को सम्पन्न करने पर अधिक बल प्रदान किया गया ताकि उनको बहुत धन प्राप्त हो सके। शांख्यायन गृहसूत्र में पुरोहित के श्राद्ध सम्बन्धी कर्म काण्ड का विवरण प्राप्त होता है। पुरोहित पवित्र पात्र से जल छिड़कता है। तथा आचमन कराता है। पितरों के कल्याण की प्रार्थना करता है। श्राद्धों में पुरोहित भोज करते थे तथा दान दक्षिणा प्राप्त कर आर्शीवाद देते थे। यजमान के सभी देव प्रसन्न हो। भोजन से पूर्व तथा पश्चात् दोनों समय पिण्डदान किया जा सकता था[33]। परन्तु सामान्यतः पिण्ड दान की प्रथा भोजन करने के बाद की जाने लगी थी। भोजन तथा दान के बाद यह क्रिया की जाती होगी, जिससे पुरोहित दान तथा दक्षिणा से कृत्यों का सम्बन्ध स्थापित करते थे। श्राद्ध में

आमन्त्रित ब्राह्मणों की संख्या पर भी प्रकाश डाला गया है। पावर्ण आभ्युदयिक, एकोदूदिष्ट तथा काम्य श्राद्ध में जितने अधिक ब्राह्मण हों उतना ही अच्छा है[54]। विभिन्न प्रकार के श्राद्धों में पुरोहितों की अधिक संख्या को अच्छा माना जाता था। ब्राह्मणों ने अधिक संख्या को इसलिए मान्यता दी, जिससे काफी ब्राह्मणों को भोजन तथा दान दक्षिणा प्राप्त हो सके। गृ० सू० के अनुसार कम से कम संख्या तीन होनी चाहिए[55]। जबकि गौतम ध० सू० न्यू नतम 5 ब्राह्मणों को आमन्त्रित करना अनिवार्य बताता है। इनमें दो देवों के लिए तथा तीन पितरों के लिए होते थे[56]। इस प्रकार ब्राह्मण वर्ग ने समाज में श्राद्ध प्रथा को स्थापित किया, जिससे उन्हें काफी धन प्राप्त हो सके और बड़ी–बड़ी दान दक्षिणाएं प्राप्त हों। इन कृत्यों के अनुष्ठान सम्पन्न कराना तत्कालीन समय में बड़ा महत्वपूर्ण तथा आवश्यक था।

इस युग में बाह्य आडम्बर तथा ज्योतिष विद्या का भी प्रचार तथा प्रसार हुआ। इस दृष्टि से भी पुरोहित वर्ग ने साधारण जनता तथा राजा पर अधिक प्रभाव बनाया। किसी शुभ कार्य का मुहुर्त उन्हीं के द्वारा सुझाया जाने लगा था। "सावंत्सर" एक ऐसा पद था, जिस पर पुरोहित ही शोभायमान हो सकता था, जो कार्यों के परिणाम "ज्योतिष विद्या" द्वारा पूर्व ही बता देता था। किसी कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व उसका मुहुर्त राजा या प्रजा को 'सावंत्सरं" से निकलवाना आवश्यक था। राजा सभी कार्य सावंत्सर (पुरोहित) से पूछकर ही प्रारम्भ करता था[57]। गौतम धर्मसूत्र में एक स्थल पर उल्लेख मिलता है। कि "राजा ज्योतिषियों के बताये गये कृत्यों को सम्पन्न करें[58]। इस प्रकार राजतन्त्र पर भी पुरोहित का पूर्ण प्रभाव स्थापित प्रतीत होता है। राजा बिना पुरोहित की सलाह से कोई कार्य न करता होगा। पुरोहित द्वारा कर्मकाण्ड तथा यज्ञों का समावेश होने के कारण कार्य का प्रारम्भ यज्ञों से ही होता था, जिसमें पुरोहित प्रभावशाली था।

सूत्र साहित्य द्वारा ज्ञात होता है कि उस युग में पौरोहित्य के कर्मकाण्ड, संस्कार, यज्ञ तथा वर्णधर्म वर्णाश्रम आदि विषयों पर क्रियात्मक रूप से अधिक बल दिया गया। प्रत्येक कार्य का सम्बन्ध याज्ञिक कर्मकाण्ड तथा अनुष्ठानों से किया गया। वेद विहित कर्मों (यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड तथा विविध संस्कार) का क्रमबद्ध रूप से प्रतिपादन किया गया है। वस्तुतः सूत्र साहित्य के माध्यम से पुरोहित द्वारा किये गये कार्यों का ही विवरण प्राप्त नहीं होता, अपितु पुरोहित का तत्कालीन समाज धर्म तथा राजनीतिक क्षेत्र में जो महत्व और प्रभाव था, उसका को बोध होता है।

महाकाव्य काल में पुरोहित

वैदिक साहित्य में यद्यपि प्राचीन भारतीय सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक सगठन के सम्बन्ध में विस्तृत संकेत प्राप्त होते हैं। किन्तु इनके विवरण संक्षिप्त और सूत्रात्मक है। उत्तरवर्ती काल में जो साहित्य लिखा गया, वह विस्तृत व्याख्यापरक हुआ। इनमें सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक विधानों को विस्तार से दिया गया।

रामायण तथा महाभारत ऐसे ही महान काव्य ग्रन्थ हैं, जिनके द्वारा उस युग का स्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख आता है। इन ग्रन्थों में सारी मान्यतायें परिपक्व स्थिति में समाविष्ट है।

महाकाव्य काल की राजनीतिक, धार्मिक तथा रमाजिक अवस्थाओं में उत्तर वैदिक काल की अपेक्षा अधिक अन्तर नहीं है, लेकिन इस युग में एक उच्च आदर्श स्थापित करते हुए आचार की नीति सम्बन्धी कार्यो पर विशेष बल दिया गया। जिनका मार्ग निर्देशन योग्य पुरोहित या ब्राह्मण द्वारा विहित होता था। वस्तुतः इस युग में भी सभी कर्मकाण्ड तथा यज्ञ विधि–विधानों का सम्पादन पुरोहित वर्ग द्वारा ही सम्पन्न किया जाता था। इस युग में वैदिक कर्मकाण्ड एवं यज्ञ विधान में दक्षता शारीरिक बल एवं अस्त्र–शस्त्र संचालन में भी ब्राह्मण अधिक निपुण हो गये थे। अतः उन्होंने क्षत्रियोचित धर्म भी स्वीकार कर लिये। इस प्रकार के उदाहरण महाभारत में मिलते हैं। गुरू द्रोणाचार्य ने ब्राह्मण होते हुए भी क्षत्रियोचित धर्म स्वीकार कर महाभारत युद्ध में भाग लिया था। लेकिन इस दशा को प्राप्त करके भी वे उन सब कर्मों को करते थे जो कि एक ब्राह्मण का धर्म था। महाभारत में भीष्म ने ब्राह्मण के कर्तव्य इस प्रकार बताये हैं– ब्राह्मण को अध्ययन–अध्यापन यजन–याजन तथा दान के प्रतिग्रह इन छः कर्मो का पालन करना चाहिए[39]। मनु ने भी पुरोहितों के छः कर्म बतलाये है[40]। इस प्रकार पुरोहित के कार्यों को मुख्य रूप से इस काल में निश्चित कर दिया गया था।

वैदिक काल की भांति ही इस समय में मुख्यतः पुरोहित धार्मिक कर्म काण्ड तथा याज्ञिक विधि विधानो का ही अधिष्ठाता रहा। अतः धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने में पुरोहित की महत्वपूर्ण भूमिका रही। "रामायण" के अनुसार विश्वामित्र के साथ जब राम तथा लक्ष्मण वन में शिक्षा ग्रहण करने तथा दुष्टों का विनाश करने जाने लगे उस समय पुरोहित वशिष्ठ ने उन्हें मंगल मन्त्रों से आशीर्वाद दिया था[41]। अन्य वर्णनों से भी ज्ञात होता है कि श्री राम के राज्याभिषेक के समय प्रातः काल से ही पुरोहितों ने स्वस्तिवाचन गाया था[42]। माता कौशल्या ने एक वृहद् यज्ञ समारोह का आयोजन किया था जिसको पुरोहितों तथा विशेष–जनों ने सम्पन्न किया था[43]। विश्वामित्र के साथ रहने वाले सभी लोग पहले स्नान आदि क्रियाओं से निवृत्त होकर देव पितरों को जलांज्जलि देने तथा अग्निहोतृ करने के बाद ही वे उनकी कथा सुनते थे[44]। महाराज जनक पुरोहित की सहायता और परामर्श से अहिन्क कृत्य करने के बाद अपने राज्य के तथा अन्य कार्य करते थे[45]। विश्वामित्र अनेक बार राम को सन्ध्या करने के लिए प्रेरणा देते हैं[46]। "रामायण" से ज्ञात होता हैं कि राम अपनी समूची वन की अवधि–वास में सन्ध्या–उपासना करना कभी नहीं भूले थे। यहाँ तक कि सीता के लिए मन के अशान्त होने पर भी उन्होंने सन्ध्या की थी[47]। ये सब तथ्य पुरोहितों द्वारा प्रतिपादित धार्मिक तथा आह्निक विधियों की उपादेयता को सिद्ध करती है।

रामायण काल यज्ञबहुल था। महान यज्ञों के अनुष्ठानों से ही राजा यश और

गौरव प्राप्त करने में समर्थ हो सकते थे। लक्ष्मण ने अपने पिता का परिचय अग्निस्टोम जैसे प्रचुर दक्षिणा वाले महान यज्ञों के कर्ता के रूप में दिया था। भरत और कैकयी ने दशरथ को यापजूक (अर्थात यज्ञों को नियमित रूप से करने वाला) कहा है। आयोध्या पुरी को समृद्ध, गुणी, वेदपारगंत एव यज्ञकर्ता पुरोहितों की नगरी बताया गया है[48]। राम ने भरत से चित्रकूट में पूछा था–"तुमने अपने राज्य में अग्निहोत्र करने के लिए योग्य, सरलचित्त एवं विधि–विधानों के मर्मज्ञ विद्वानों को नियुक्त किया है? क्या वे तुम्हे यज्ञों को प्रारम्भ तथा समापन के समय का ज्ञान कराते रहते हैं[49]? ये उदाहरण उस यज्ञ कराने वाले पुरोहितों के महत्व तथा आवश्यकता के द्योतक हैं।

रामायण काल में महान यज्ञों का सम्पादन होता था। इनमें पुरोहितों के चार वर्ग थे होता, उद्‌गाता, अध्वर्यु, और ब्रह्मा। ब्रह्मा समस्त कर्मकाण्ड का निरीक्षण करता था। वह शास्त्रीय विधि का पालन कराता था। सदोष विधि समस्त सम्बद्ध लोगों के लिए अकल्याणकारी मानी गई थी[50]। इसलिए पुरोहितों को पहले से ही सावधान रहना होता था कि यज्ञ की विधि में कोई भी त्रुटि न रहने पाये। महान यज्ञों में अश्वमेघ यज्ञ की वही प्रतिष्ठा थी। उसके अनुष्ठान द्वारा राजा अपनी सार्वमौम सत्ता उद्‌घोषित करते थे। रामायण में राम और दशरथ के अश्वमेघ यज्ञ का विस्तृत वर्णन है। इससे उसकी महता, वैभव शालीनता एवं सचालन व्यवस्था का विशद परिचय मिलता है[51]।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि यह युग भी कर्मकाण्ड से जुड़ा था। रामायण में वर्णन है कि विश्वामित्र कर्मकाण्ड सम्बन्धी योग्यता (पौरोहित्य विषयक अपनी योग्यता) में विशेष दक्षता प्राप्त करने के लिए अपने पहले आश्रम (कौशिकी नदी के तटवर्ती) को छोड़कर दक्षिण पश्चिम में स्थित सिद्धाश्रम में चले गये[52]। उस समय वेद–वेदांग तथा कर्मकाण्ड में पारंगत विद्वान का पुरोहित के रूप में समाज में आदर अधिक था। पुरोहित के लिए जो आवश्यक कार्य विधानों का उल्लेख शास्त्रों में वर्णित है, उसके विपरीत आचरण करने वाला पुरोहित या ब्राह्मण निन्दनीय था। वेद ज्ञान से शून्य और शास्त्रों के ज्ञान से रहित ब्राह्मण पुरोहित काष्ठहस्ती, अचर्य मृग, पुरूषत्वहीन पुरूष, पंखहीन पक्षी, अग्निहीन ग्राम अथवा जल रहित कुंआ निन्दनीय होते हैं[53]। इसी दृष्टि से पुरोहित के लिए शुभ, यम, तप, शौच, शान्ति आर्जव, ज्ञान विज्ञान, आस्तिक्य आदि गुणों का होना अनिवार्य था। समाज में उसकी प्रतिष्ठा उसके त्याग और तपस्या के कारण ही थी। अपने ज्ञान और बुद्धि से वह द्विज वर्णो को शिक्षित ही नहीं करता था, अपितु उनके बौद्धिक विकास में भी सहायता प्रदान करता था। धार्मिक अनुष्ठानों और यज्ञों को सम्पन्न करने आपदाओं तथा बाधाओं से लोगों की रक्षा करता था। अपने उच्च कार्यो के द्वारा वह समाज तथा राजसंस्था का महत्वपूर्ण अंग बन गया था। उसे विशेष अधिकार भी प्राप्त थे। यथा इस काल में भी वह पूर्व की भांति अवध्य था[54]।

महाभारत में पुरोहित के महत्व को देखते हुए उसकी योग्यता पर अधिक बल दिया गया। एक स्थल पर भीष्म का युधिष्ठिर से यह कथन है कि जो असत्य को दूर करके सत्य की रक्षा करता है, उसी को राजपुरोहित बनाना चाहिए उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि करता है। वह विद्वान तथा बहुश्रुत धर्म तथा अर्थ का गहन अध्ययन करने वाला और धर्मात्मा तथा मन्त्र नीति का ज्ञाता होना चाहिए, जिसके व्यवहार में ये गुण हों, उसी को राज–पुरोहित पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए क्योंकि राष्ट्र का योगक्षेम तो राजा के अधीन है, परन्तु राजा का योगक्षेम पुरोहित के हाथ में निहित होता है[55]।

इस प्रकार स्पष्ट है कि महाकाव्य में पुरोहित विद्वता एवं प्रखर बुद्वि के कारण ही आदर का पात्र था। याज्ञायिक कर्मकाण्डों में विद्वानों को ही आमन्त्रित किया जाता था। अन्य ब्राह्मणों को दया तथा हीन भाव से देखा जाता था। महाभारत के वनपर्व में उल्लेख है कि पौरोहित्य प्राप्त करने के लिए उसका जितेन्द्रिय, धर्मपरायण, स्वाध्यायशील और पवित्र होना आवश्यक था। काम क्रोध लोभ जिनके वश में हो, देवता उसी को ब्राह्मण स्वीकार करते हैं[56]। अर्थात् ऐसे गुण–सम्पन्न व्यक्ति को ही पुरोहित का पद दिया जाता था। "रामायण" में भी एक स्थल पर आया है कि दशरथ के अश्वमेध–समारोह में विविध क्षेत्रों के विशेषज्ञों को अपनी योग्यता दिखाने का अवसर दिया गया। यज्ञ–विधि के ज्ञाता पंडितों, ब्राह्मणों, कुशल स्थापतियों, शिल्पकारों, ज्योतिषियों, चित्रकारों, नट–नर्तकों, बहु–श्रुत पुरूषों आदि की सेवायें के ग्रहण करने का वर्णन आता है। इससे ऐसा आभास होता है। कि महाकाव्य–काल में योग्यता एवं विद्वता का पूर्ण आदर था। यह उल्लेख है कि कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं था, जो वेद–वेदांग का ज्ञाता न हो तथा व्रतों का पालन न करता हो और सुपठित तथा वाक्‌कुशल न हो, उपरोक्त तथ्यों की पुष्टि करते हैं[57]। याज्ञिक कर्मकाण्ड को सम्पादित करते समय यदाकदा सुवक्ता पुरोहित वर्ग एक दूसरे को जीतने की इच्छा हेतु वेदों पर शास्त्रार्थ भी करते थे[58]।

"महाभारत" के सभा पर्व के एक स्थान पर नारद द्वारा युधिष्ठिर से यह पूछना कि–विनयी, सुवंशी, यशस्वी, असूया से रहित और महानुभाव पुरोहित का तुम बिना कहे हुए ही सदा आदर करते हो न, इस तथ्य का द्योतक है उस काल में पुरोहित का कितना आदर तथा सम्मान था[59]। शान्ति पर्व में उल्लेख मिलता हैं कि पुरोहित के पद पर सत्य–रक्षक, असत्य के निवारक, विद्वान, बहुश्रुत, धर्मात्मा और मन्त्र ज्ञाता ब्राह्मण को ही असीन किया जाये[60]। इस प्रकार महाकाव्यों में विद्वान पुरोहित की नियुक्ति पर ही अधिक बल दिया गया है। वंशानुगत पुरोहित के उदाहरण कम प्राप्त होते हैं। लेकिन ऐसा संभव है कि यदि किसी पिता का पुत्र यशस्वी गुणी तथा विद्वान है तो वह अवश्य पुरोहित पद प्राप्त कर सकता था। मूर्ख तथा दम्भी को यह स्थान प्राप्त करना संभव नहीं था।

याज्ञिक एवं धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने के अतिरिक्त पुरोहित

प्रशासनिक कार्यों से भी जुड़ा था। महाभारत में पुरोहित की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा गया है कि बिना पुरोहित के राजा को कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता[61]। यहां तक कि पुरोहित का स्थान मन्त्रियों से भी ऊँचा था। शान्ति पर्व के अनुसार मन्त्रियों द्वारा प्रस्तुत प्रस्तावों का कार्यान्वयन पुरोहित की अनुमति लेकर करना चाहिए[62]। इस प्रकार सम्भवतः सभी प्रमुख कार्यों में पुरोहित की अनुमति आवश्यक थी। पाँण्डवों के पुरोहित धौम्य थे, जो उनके प्रशासन में सहायक थे[63]। धौम्य के परामर्शानुसार कार्यकरने से सदैव पाँडव विपदाओं से बचे रहे[64]। क्षत्रिय तथा पुरोहित के सहयोग से असाधारण से असाधारण विपत्तियों का निराकरण भी संभव माना गया। इस सम्बन्ध में श्यामलाल पाण्डेय का कथन उल्लेखनीय है कि जिस राज्य में पुरोहित ब्रह्म तेज से प्रजा के अदृष्ट और राजा बाहुवल से दृष्ट भय का निवारण करता है, उस राज्य मे सुख की प्राप्ति होती है[65]। इस प्रकार पुरोहित राज्य का एक आवश्यक अंग था। राजा तथा राज्य का कल्याण मुख्य रूप से पुरोहित पर ही निर्भर करता है। किसी प्रतिष्ठित अतिथि के आगमन पर उसे मधुपर्क देने का कार्य पुरोहित ही करता था। अतएव यह स्वीकार किया जा सकता है कि इस काल में पुरोहित की राज सभा में उपस्थिति अनिवार्य थी और वह एक उपयोगी पद था। पुरोहित का पद दूसरे अमात्यों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण था। राज पुरूषों की जो सूची उपलब्ध होती है उसमें पुरोहित का सर्वोच्च स्थान था यथा पुरोहित, चमूपति (सभापति द्वारपाल वह केवल साधरण मन्त्री था वरन राजप्रसाद की रक्षा सेना का अध्यक्ष भी प्रतीत होता था।) प्रदेष्टा (न्यायधीश) धर्माध्यक्ष (न्यायपति) दण्ड पाल (पुलिस का अध्यक्ष) नगराध्यक्ष कार्य निर्माण कृत (कार्यों का विधायक), कारागाराधिकारी और दुर्गपाल आदि[66]।

पुरोहित का सीधा सम्बन्ध राज्य संस्थाओं से था। गणतन्त्र में यद्यपि राज्य का सारा भार राजा पर होता है, लेकिन राजा के कल्याण तथा अकल्याण का सम्पूर्ण दायित्व उसके पुरोहित के ऊपर निर्भर था। इसलिए शास्त्रकारों ने राजा को धर्मविद वाग्मी सुशील, शुचि, विद्वान, ब्राह्मण को पुरोहित नियुक्ति करने का निर्देश दिया। महाभारत में कहा गया है। कि राजा पुरोहित के उपदेश सुनता है तथा उसकी आज्ञा मानता है वहसारी पृथ्वी पर सम्राट स्वयं ही बन जाता है। ऐसा स्वीकार किया गया था कि केवल शौर्य तथा साहस के बल से कोई भी राजा महान कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता, अपितु पुरोहित मिलने पर ही वह शक्ति शाली है। ब्राह्मणों द्वारा संचालित राज्य हर तरह से सम्पन्न होता है[67]। इस प्रकार धर्म अर्थ और काम को जानने वाले पुरोहित के बिना कोई भी राजा उन्नति नहीं कर सकता।

वृहस्पति तथा वशिष्ठ के उदाहरणों से पता चलता है कि पुरोहित केवल यज्ञ आदि कार्य ही नहीं करते थे बल्कि वे राजा को मन्त्रणा भी देते थे। "महाभारत" के अनुसार सब मन्त्रियों से मन्त्रणा करने के उपरान्त जितेन्द्रय ब्राह्मण गुरू से विचार विमर्श करके और उनकी स्वीकृति पाकर ही कार्य सम्पन्न करता था[68]। इससे सब

मन्त्रियों में पुरोहित का पद अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। पुरोहित घर से लेकर राज सभा तक सम्पूर्ण क्रियाओं से अवगत रहता था। पाण्डवों के साथ धौम्य 12 वर्ष तक वनवास की पूरी अवधि तक साथ रहे। उन्होंने उनका साथ नहीं छोड़ा। अज्ञात वास से पूर्व पाण्डवों को नीति सम्बन्धी उपदेश देकर अग्नि होत्र के समस्त उपकरण लेकर वे पांचाल चले गये[69]। पाण्डव धौम्य ऋषि के पौरोहित्य में दैनिक यज्ञ करते थे। विशेष अवसरों पर विशिष्ट अनुष्ठान भी किये जाते थे।

राज सूय यज्ञ के सम्बन्ध में युधिष्ठिर ने भाइयों, महात्माओं, ऋत्विजो धौम्य पुरोहित, व्यास आदि ऋषियों तथा मन्त्रियों के साथ बार–बार विचार विमर्श किया[70]। एक स्थल पर घृतराष्ट्र ने दुर्योधन को सम्बोधित कर कहते हैं कि हे भारतश्रेष्ठ यदि तुम भी वैसी ही सम्पत्ति पाना चाहते हो तो तुम्हारे पुरोहित सप्ततन्तु भी महायज्ञ का अनुष्ठान करें[71]। सोमक राजवंश के एक मन्त्र विद् पुरोहित का वर्णन प्राप्त होता है, जो याजन के अतिरिक्त अन्य राजकार्यों में भी अपना सहयोग प्रदान करते थे[72]। उधोग पर्व के आरम्भ में ही राजाओं के अपने पुरोहितों को कुल सभा में भेजने का संकेत प्राप्त होता हैं। राजा द्रुपद ने कौरवों तथा पाण्डवों में सौहार्द स्थापित करने का कार्य अपने पुरोहित को सौंप दिया था इस प्रकार पुरोहित तथा राजा के सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ होते थे। आदान–प्रदान तथा स्वार्थ की गंध तक इन सम्बन्धों में विद्यमान न थी। किसी प्रकार के भय की आशंका का अनुमान अशुभ लक्षणों आदि के द्वारा पहले ही कर लेते थे। तथा इनको दूर करने के लिए देव यज्ञ करते थे जो पुरोहितों द्वारा सम्पन्न किये जाते थे।

पुरोहित राजा का परामर्शदाता, राजगुरू तो था ही वह मुख्य कार्यकर्ता भी था। घरेलू जिम्मेदारी भी उन्हीं पर अश्रित होती थी। विवाह जैसा महत्व पूर्ण संस्कार का दायित्व भी पुरोहित पर निर्भर था। उदाहरणार्थ अर्जुन के लक्ष्यभेद के बाद द्रुपदराजा ने पाण्डवों के पास अपने पुरोहित को ही भेजा था। ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ–जहाँ भी किसी विशेष अनुष्ठान की आवश्यकता होती थी वहाँ पुरोहित की उपस्थिति अनिवार्य थी।

पाण्डवों ने पुत्रों के उपनयन आदि संस्कार धौम्य पुरोहित के पौरोहित्य में ही सम्पन्न कराये थे। युधिष्ठिर के राजसूय में धौम्य स्वयं "होता" बने थे। "महाभारत" से युधिष्ठिर के दो राज्याभिषेकों का वर्णन प्राप्त होता है, प्रथम तो राजसूय यज्ञ के समय तथा दूसरा महाभारत युद्ध के बाद। इस प्रकार राज पुरोहित–पुरोहित, धर्म गुरू तथा राजा का मुख्य सलाहकार पारषद भी था। जिसने राज्य–कार्यों में सर्वोच्चता प्राप्त की थी। पुरोहित धार्मिक कार्यों के सम्पादन से राजा की नीति धर्म सम्बन्ध में बदल लेता था तथा राजा को धर्म की बात बता कर प्रजा के सुख का आधार बनाता था। महाभारत में पुरोहित को धर्म का सेतु कहा गया है। ब्राह्मण शास्त्रों का ज्ञाता, निर्माता तथा यशस्वी है। तपोधर्म और तपस्वी ब्राह्मण सबका पथ–प्रदर्शक तथा धर्म की उन्नति का कारण हैं। ब्राह्मण को इस पृथ्वी का देवता स्वीकार किया

गया। क्षत्रियों को ब्राह्मणों की रक्षा का भार सौंपा गया है। "महाभारत" में कहा गया है कि राज धर्म का पालन करना अपना कर्तव्य समझता है और ब्राह्मण को धर्म का सेंतु स्वीकार किया गया है। अतः राजा को सर्वथा ब्राह्मण अर्थात् विद्वानों की रक्षा करनी चाहिए। पुरोहित की इतनी प्रतिष्ठा होते हुए भी कतिपय उदाहरण ऐसे भी मिलते है जिनमें आभास होता है कि महाकाव्य काल में पौरोहित्य कर्म निन्दित भी माना गया था। उस समय पुरोहिति एक सेवा गिनी जाने लगी थी। इसका तात्पर्य है कि राजा के आदेशानुसार पुरोहित यज्ञादि अनुष्ठान सम्पन्न करता था। यहाँ पर पुरोहित का सेवाभाव लक्षित होता है। ("महाभारत" में एक स्थल पर नृपति मसत् देव गुरू वृहस्पति को अपने यहां यज्ञ में ऋत्विक का पद देना चाहते थे। वृहस्पति को देवराज से आज्ञा प्राप्त करनी चाहिए। देवराज ने कहा—"यदि आपमसत् के यहां यज्ञ का कार्यभार संभालते हैं तो फिर हमारे यहाँ आपकी आवश्यकता नहीं है[73]। इस प्रकार पुरोहित को राजा के कठोर शब्द सुनने पड़ते थे। इसलिए मनस्वी ब्राह्मण पौरोहित्य स्वीकार नहीं करते थे। तथापि विद्वान् राष्ट्र का हित की कामना करने वाले ब्राह्मण इसको स्वीकार करते ही थे। "रामायण" में गुरू वशिष्ठ राम से कहते हैं—"पौरोहित्य के गार्हित एवं दूषित वृत्ति होने पर भी तुम्हारा आचार्य होने से मैंने यह कार्य करना स्वीकार कर लिया है[74]। महाभारत में शार्मिष्ठा देवयानी से शुक्राचार्य के लिए कहती है— तुम्हारे पिता हमेशा विनीत भाव से मेरे पिता की स्तावक की तरह स्तुति करते है[75]। परन्तु यह कथन उस युग की प्रवृतियों के विरूद्व है। वैदिक काल में पुरोहित सम्मान—जनक पद था, तथा महाभारत काल तक वही स्थिति बनी रही।

हमें अधिकतर राजाओं के विवरण प्राप्त होते है जों पुरोहितों के परामर्श से शासन व्यवस्था को चलाते थे। प्रशासनिक कार्यों में राजा को परामर्श देने के अतिरिक्त युद्ध के अवसर पर पुरोहित भी युद्ध भूमि में जाते थे और विजय की प्राप्ति के लिए देवताओं की स्तुति करते थे। कुछ क्रियायें ऐसी भी होती थी, जिन्हें युद्ध से पहले करने के संकेत प्राप्त होते हैं। युद्ध में जाने से पहले कर्ण के रथ का देवज्ञ पुरोहितों द्वारा मांगलिक कार्य सम्पन्न किये जाने का उल्लेख है[76]।

पुरोहित को तपोबल, ब्रह्मवर्चस्व एवं त्याग के कारण अलौकिक शक्तियों से युक्त माना गया है। युद्ध के अवसर पर युद्ध के आयुद्धों की पुरोहित द्वारा पूजा—अर्चना की जाती थी। ताकि युद्ध में राजा विजयी हो। वीर रक्षा सूत्र बांध कर स्वस्ति मन्त्र पाठ भी किया जाता था[77]। पुरोहित इतना पूजनीय था कि यदि वह दोनों सेनाओं के बीच आकर खड़ा हो तो युद्ध उसी क्षण बन्द हो जाता था। पुरोहित की मान्यता को चेतावनी देना क्षत्रिय धर्म के विरूद्ध था[78]। पुरोहित का कार्य समाज में केवल पूजापाठ तथा धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न करना ही न था अपितु उससे विद्या की साधना तथा सात्विक और व्रतशील जीवन व्यतीत करना भी अपेक्षित था। महाभारत में ब्राह्मणों को 12 व्रत करना बताया गया है। सनत कुमार ने धृतराष्ट्र से कहा कि धर्म, सत्य, इन्द्रिय, निग्रह, तप, लज्जा, सहनशीलता, किसी के दोष का

न देखना, यज्ञ करना, दान देना, धैर्य और शास्त्र ज्ञान इत्यादि पुरोहित के गुण हैं। विद्याध्ययन में रत रहने के कारण ही ब्राह्मण को श्रेष्ठ स्वीकार किया गया। युधिष्ठिर से पूछा कि ब्राह्मणों में देवत्व क्या है? पुरूषों जैसा धर्म क्या है ? युधिष्ठिरं ने उत्तर दिया कि वेदों का स्वाध्याय ही ब्राह्मणों में देवत्व है। तप सत्पुरूषों जैसा धर्म है[79]। वेदों का ज्ञान ही पुरोहित के पास उत्तम ज्ञान था। ज्ञान के कारण ही यह वर्ग सर्वोच्च था। अतः उत्तरवर्ती समय में लोग इस पद के लिए ज्ञान क्षेत्र में आगे बढ़ने के प्रयास करने लगे।

उपरोक्त तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए आप्टे का मत उचित प्रतीत होता है कि उत्तर वैदिक काल के पश्चात् ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा समाज में क्षत्रियों से अधिक थी[80]। महाकाव्य काल में भी पुरोहित का स्थान समाज तथा राज्य में पूर्ववत् महत्वपूर्ण बना रहा। ब्राह्मण जन समान्य पर अपने तप, त्याग एंव सदाचार के द्वारा प्रभाव स्थापित करने में पूर्णतः सफल थे। इस सन्दर्भ में वनपर्व का वह अंश उल्लेखनीय है जहां कहा गया है कि ब्राह्मण ही उत्कृष्ट तेज है, ब्राह्मण ही परम तप है। ब्राह्मणों के नमस्कार से ही सूर्यदेव आकाश में विराजमान होते हैं[81]।

महाकाव्यों में देवतागार, देवस्थान, देवराह, देवायतन, देवागार, देवतायन आदि विभिन्न देवस्थलों के नाम वर्णित हैं। जिनमें योग्य विद्वान तपस्वी पुरोहित राज्य की ओर से नियुक्त थे। उनका प्रबन्ध राज्य की ओर से राज पुरोहित करता था। एक स्थान पर वर्णन है कि राम के अभिषेक के समय पुरोहित वशिष्ठ ने देवताओं के मन्दिरों और चैत्यों में अन्न, द्रव्य, दक्षिणा और पूजा की सामग्री की व्यवस्था करने के लिए मन्त्रियों को आदेश दिया[82]। महाकाव्यों के अनेक उदाहरणो सें ज्ञात होता है कि राजाओं ने देवास्थान बनाये, ब्राह्मण पुरोहितों को नियुक्त किया और मन्दिरों के व्यय के लिए दान आदि की व्यवस्था की जिससे व्यवस्थापक एवं पुजारी केवल ब्राह्मण थे। धार्मिक स्थानों और मन्दिरों की रक्षा करना राजाओं का परम धर्म था, क्योंकि ये धर्म स्थल ही योग, तप, जप, आध्यात्म एवं शान्ति के केन्द्र थे। इन धार्मिक स्थलों के द्वारा आर्थिक सहायता भी की जाती थी। राम के वनगमन के पश्चात् राजा दशरथ की मृत्यु होने पर राजपुरोहित वशिष्ठ ने ही राजसभा का नेतृत्व किया तथा भरत को ननिहाल से बुलाकर राजपद ग्रहण करने सम्बन्धी समस्त प्रक्रिया पूर्ण की[83]। महाभारत में भी ऐसे पुरोहितों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने बिना किसी भय के राजा को इसके कर्तव्य पालन हेतु उपदेश दिये।[84]

धार्मिक क्रान्ति तथा पौरोहित्य प्रथा

छठी शताब्दी ई० पू० भारतीय इतिहास में संक्रमण काल के रूप में अविस्मरणीय है। इस समय वैदिक काल से चली आ रही धार्मिक मान्यतायें अत्यन्त कठोर एवं जटिल रूप धारण कर चुकी थी। वैदिक युगीन धर्म में हमें जिस उदारता के दर्शन होते हैं महाकाव्यकाल में आकर उसमे संकीर्णता उत्पन्न हो गई। ब्राह्मण एंव पुरोहित वर्ग में अधिनायकतावादी प्रवृति प्रबल रूप धारण कर चुकी थी। वर्णगत

भेद जटिल कर्मकाण्ड परक याज्ञिक अनुष्ठान, अंधविश्वास का विकराल रूप आदि तत्कालीन विचारकों तथा व्यवस्थाकारो को भविष्य की आंशकाओं के प्रति सचेत करने का भरसक प्रयत्न कर रहे थे। तत्कालीन समाज में मुख्यरूप से दो वर्ग थे यथा एक वर्ग तो पुरोहित वर्ग की प्रधानता स्वीकार करते हुए याज्ञिक कर्मकाण्ड सम्पन्न करने, पुरोहित ब्राह्मण को दान दक्षिणा देने तथा देवी–देवताओं की पूजा, उपासना करने में संतोष का अनुभव करता था तो दूसरा वर्ग इस प्रकार की प्रक्रिया से अंसतुष्ट ही नहीं अपितु उसके विरूद्ध प्रतिक्रिया भी प्रदर्शित कर रहे थे। महाकाव्य युग में पारासर का यह कथन–कि धर्म परायण शूद्र ब्रह्म के समान है विष्णु ही सारे संसार में श्रेष्ठ हैं। बदलती परिस्थितियें का ही द्योतक है। महाभारत में भविष्य का चित्रण करते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण शूद्र का कार्य करेंगे, क्षत्रिय यज्ञ करेंगे, शूद्र धनोपार्जन करेंगे आदि। उपर्युक्त तथ्य तत्कालीन धार्मिक जीवन की संकीर्णता के प्रति उपजी प्रतिक्रिया के प्रतीक हैं। परिणाम स्वरूप विश्व के अन्य देशों की भाँति भारत में भी एक वैचारिक तथा धार्मिक क्रान्ति प्रस्फुटित हुई जिसने तत्कालीन भारतीय जीवन को ऊपर से नीचे तक परिमार्जित कर दिया। वस्तुतः भारत की यह क्रान्ति ह्रासजनित धर्म या परम्परा की शिला पर आधारित थी। इस परिवर्तन के विभिन्न कारणों में ब्राह्मणों का प्रभुत्व तथा क्षत्रियों की प्रतिद्वदिता, शूद्रों की दयनीय स्थिति, कर्मकाण्ड तथा यज्ञादि की जटिलता, तंत्र मंत्र तथा अधंविश्वास का बाहुल्य सामाजिक नियमों की कठोरता, धार्मिक साहित्य की क्लिष्टता एवं बहुदेववाद आदि उल्लेखनीय है। परन्तु इन समस्त कारणों के मूल में ब्राह्मण पुरोहित द्वारा धार्मिक अनुष्ठान तथा याज्ञिक कर्मकाण्ड के माध्यम से स्थापित समाज में एक विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग के रूप में अपने को स्थापित करने की चुतरतापूर्ण योजना थी। एक ओर पुरोहित समाज में अपनी सर्वोपरिता सिद्ध किये हुए था तो दूसरी और जनसाधारण की भावनाओं को कुचल रहा था। कुछ समय तक यह क्रम चलता रहा किन्तु उत्थान और पतन प्रकृति का शाश्वत नियम है। वह समय अवश्याम्भावी था जब किसी दिन सच्ची धार्मिक प्रवृति प्रबल होकर पुरोहिती को ध्वंस कर दें।

अंततः छठी शता० ई० ने ऐसे ही एक क्रान्ति को जन्म दिया जिसका बीजारोपण महाकाव्य काल में हो चुका था। परिणामस्वरूप धार्मिक क्रान्ति, बौद्धिक चेतना तथा नवीन सुधारों को सहज ही समाज में मान्यता मिलने लगी। प्रारम्भ में जिन छोटे–छोटे परस्पर विरोधी सम्प्रदायों ने जन्म लिया धीरे–धीरे वे स्वतः विलीन हो गये तथा केवल चार प्रमुख मत ही शेष बचे यथा जैन धर्म, बौद्ध धर्म, वैष्णव धर्म तथा शैव मत। इन चारों सम्प्रदायों ने मुख्यरूप से ब्राह्मण धर्म की रूढ़ीवादिता पर कठोर आधात किया। यद्यपि ये चारों अपने दर्शन तथा मान्यताओं में भिन्न थे परन्तु इनका लक्ष्य एक ही था। यथा–प्रचलित यज्ञवाद तथा कर्मकाण्डी विधानों की मान्यता का खण्डन करना। विचारकों ने तर्क की प्रबलता द्वारा वेदों की प्रमाणिकता,

रूढ़िवादी एवं परम्परागत ब्राह्मण धर्म की मान्यताओं का खडन तथा ब्राह्मण की पुरोहिताई को चुनौती देकर यज्ञों, बलियों तथ अपव्ययी कार्मकाण्ड का प्रबल विरोध किया। कर्म पर जोर देकर उन्होंने मनुष्य को स्वयं अपना भाग्यविधाता बताया। सामाजिक सुधारों द्वारा वर्णव्यवस्था, जात–पात एवं ऊँच नीच की भावना का विरोध करते हुए समाज को एक नई दिशा प्रदान की। अपनी इन विशेषताओं के कारण इस क्रान्ति के सांस्कृतिक स्वरूप ने जनसाधारण का अभूतपूर्व समर्थन प्राप्त किया। कई विचारकों ने इस परिवर्तन को वैचारिक क्रान्ति नहीं माना है। पं० जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि पुराने मतो से इसका संघर्ष और धर्म के मामलों में स्थापित स्वार्थों से लड़ाई चल रही थी संदेश बहुत पुराना था फिर भी बहुत नया था और जो लोग ब्रह्मज्ञान की बारीकियों में उलझे हुए थे उनके लिए मौलिक था। यह लोगो के दिलों पर गहरा बैठ गया था[85]। जे० एस० नेगी का कथन है कि छठी श० ई० पू० की वैचारिक क्रान्ति जिसने जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म को जन्म दिया मूलरूप में बौद्धिक तथा धार्मिक क्रान्ति होते हुए भी क्रान्ति नहीं थी अपितु तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों के प्रति असंतोष की भावना थी, जिसने नवीन नैतिक मूल्यों की खोज में सहयोग प्रदान किया[86]।

वस्तुतः यदि देखा जाये तो इस परिवर्तन का बीजारोपण कुछ समय पहले उपनिषदों के काल में हो चुका था। उपनिषदों के ज्ञान ने कर्मकाण्ड परक ब्राह्मण अनुष्ठानों और रक्तिम यज्ञों के विरूद्ध बगावत का झण्डा उठाया था जिसका केन्द्र बिन्दु मगध था। ब्राह्मणों का अंहकार तथा पद प्रतिष्ठा के कारण लोगों को अप्रिय हो चले थे। राजबली पाण्डेय ने लिखा है कि उत्तर–वैदिक काल के धर्म सें प्रतिक्रिया उसी युग में लिखे आरण्यक और उपनिषद ग्रन्थों में शुरू हो गयी थी। उपनिषदों ने वेदों के प्रमाण के बदले अपने अनुभव व्यक्तिगत ईश्वर के स्थान में अमूर्त और अर्चनीय ब्रहम और यज्ञों की जगह नैतिक आचरण पर जोर दिया[87]। यह इस तथ्य का प्रमाण है कि उस समय सारा कर्मकाण्ड अनैतिक हो गया था तथा पौरोहित्य कर्म का नैतिक पतन हो चुका था। वैदिक काल में पुरोहित मार्गदर्शन तथा राष्ट्र रक्षक था, लेकिन इस युग में उसका पूर्व स्तर नहीं रह गया था। उस समय ब्राह्मणों ने जाति प्रथा को इतना कड़ा बना दिया था कि उसमें परिवर्तन असंभव था। ब्राह्मणों ने जिस व्यवस्था को जन्म दिया उसमें उन्हें सर्वश्रेष्ठ माना जाता था, इनकी वाणी देववाणी थी तथा समाज में उन्हें देवतुल्य कहा जाता था[88]। ब्राह्मण का अपमान सर्वनाश का कारण होता था। ऐसा महाभारतकाल में भी स्वीकार किया गया है[89]।

तत्कालीन सुधारकों ने केवल याज्ञिको अनुष्ठानों के ही विरूद्ध आवाज नहीं उठाई अपितु वर्ण भेद का भी विरोध किया– जो छठी ई० पू० तक आर्यों में भली भांति प्रतिष्ठित हो गया था। डा० सत्यकेतु[85] ने लिखा है। कि बौद्ध तथा जैन धर्म के प्रचार तथा प्रसार के लिए जाति प्रथा का विकृत रूप भी एक कारण था। लेकिन कुल ही उच्चता का भाव क्षत्रियों में ज्यादा था। वे अपने को ब्राह्मणों से उच्च मानते

थे[90]। इसी प्रकार का मत जयचन्द विद्यालंकार ने भी व्यक्त किया है कि क्षत्रियों में विशेषकर तथा अन्य कुलीन लोगों में साधारणतया अपने जन्म का अभिमान था[91]। इस प्रकार ब्राह्मण धर्म को यद्यपि उस युग में बहुत गहरा धक्का लगा होगा क्योंकि उसकी सारी मान्यताओं की उपेक्षा तथा व्यवस्थाओं पर कुठाराधात हो रहा था। फिर भी ब्राह्मण धर्म पूर्णतया समाप्त हो गया हो ऐसी स्थिति नहीं थी। पुरोहित की आवश्यकता उस युग में भी बराबर बनी रही। क्योंकि पुरोहित एक साधारण ब्राह्मण नहीं था। इस की पुष्टि इस तथ्य से होती है। जहाँ पर बौद्ध अनुश्रति के द्वारा ज्ञात होता है कि पहला राजा जिसको महासम्मत कहा गया है उसे भी पुरोहित नियुक्त करने की आवश्यकता हुई थी।

जैन तथा बौद्ध युग में विशेषकर ब्राह्मण और क्षत्रिय के बीच में बौद्धिक श्रेष्ठता के आधार पर संघर्ष प्रारम्भ हो चुका था। दोनों एक दूसरे से बढ़ कर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहते थे। उस युग के ग्रन्थों में वर्णो का वर्णन किया गया उनमें क्षत्रिय प्रमुख था। कुछ ने स्वयं क्षत्रिय को श्रेष्ठ सिद्ध किया है तथा वर्ण व्यवस्था में उसे प्रमुख स्थान दिया है[92]। उक्त विवेचन से ऐसा स्पष्ट होता है कि वैदिक युग में ब्राह्मण अपनी विद्वता तथा कर्म काण्ड के कारण क्षत्रिय की अपेक्षा श्रेष्ठ था लेकिन बौद्ध युग में क्षत्रिय ने प्रमुख स्थान बना लिया था। क्षत्रियों ने ज्ञान तथा दर्शन और विद्या के आधार पर तद् युगीन समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया था।

वस्तुतः यदि देखा जाये तो उपनिषद काल में ही क्षत्रियों ने ब्राह्मणों की बौद्धिक उत्कृष्टता को चुनौती देना प्रारम्भ कर दिया था। जनक आदि क्षत्रियों ने ब्राह्मण जिज्ञासुओं को भी तत्व ज्ञान की शिक्षा दी थी। उसी प्रकार बौद्ध काल में भी क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के एकाधिकार को खंडित किया तथा उनके सामाजिक पाखण्ड और आडम्बर को समाज के सम्मुख अनावृत किया। महावीर जैसे बौद्धिक नेताओं ने क्षत्रिय वर्ग में जन्म लेकर अपने को शिक्षा और विद्या के क्षेत्र से सम्बन्धित कर लिया।

इसका अर्थ यह था कि अब विद्या–अध्ययन, अध्यापन पर ब्राह्मण वर्ग का ही एकाधिकार नहीं था, वरन् क्षत्रियों ने भी इस कार्य में रूचि दिखायी। शास्त्रों के अध्ययन से पता चलता है कि वैदिक काल में भी क्षत्रिय शिक्षा ग्रहण करते थे। गौतम का उल्लेख है कि राजा को शासन कार्य सुचारू रूप से चलाने के लिए वेद, धर्म शास्त्र उपदेश तथा पुराणों में भिन्न–भिन्न विषयों का अध्ययन अनिवार्य था[93]। आपस्तम्ब धर्म सूत्र में भी उल्लेख है कि क्षत्रिय आपत्त काल में ब्राह्मण को शिक्षा दे सकता था[94]। महाभारत काल में भी क्षत्रियों को वेदों तथा धनुर्वेद, रण विद्या और संगीत में पारंगत बताया गया है। इस प्रकार छठी ई० पू० युग में ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के मध्य वैचारिक एवं बौद्धिक मतभेद चरम सीमा पर पहुँच चुका था तथा ब्राह्मणों के कार्यों से उस युग की जनता ऊब चुकी थी। पूर्वकाल के क्षत्रिय शासक राज्य

में धर्म की स्थापना के कारण स्वतः धर्म के प्रतिनिधि के रूप में ब्राह्मण या पुरोहित को पूज्य मानते थे। परन्तु छठी शता० ई० तक स्थिति में परिवर्तन आ गया था। ब्राह्मण तथा क्षत्रियों में यह प्रतिस्पर्धा ठीक उसी प्रकार थी जिस प्रकार महाकाव्य में योरूप मे पोप तथा राजा के मध्य थी। पूर्वकाल में क्षत्रियों ने ज्ञान, कर्म तथा भक्ति के कारण पुरोहित को श्रद्धा तथा सम्मान दिया था। यहाँ तक कि प्रशासकीय कार्यों में भी उनकी सलाह ली जाती थी। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है। कि ब्राह्मण को अभी भी अपने प्रमुख से संतोष नहीं था। उन्होंने धार्मिक अनुष्ठान, कर्मकाण्ड, तथा मन्त्रणा के माध्यम से क्षत्रियों के अधिकार क्षेत्र में भी हस्तक्षेप प्रारम्भ कर दिया उनकी धारणा थी कि क्षत्रिय के लिए चुनौती का विषय था। परिणाम स्वरूप क्षत्रियों के मन में भी ब्राह्मण के प्रति प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक ही थी[95]।

इस युग में नैतिकता, आचार एवं दर्शन पर अधिक बल दिया गया। इस युग के आचार्यों ने रूढ़ीवादी परम्पराओं का खुलकर विरोध किया। ब्राह्मण वर्ग का नैतिक पतन हो चुका था तथा वे अपने द्वारा सम्पन्न किये गये कार्यों को ही मान्यता देते थे। इसलिए छठी ई० पू० में उनके कार्यों को चुनौती दी गयी और नये सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया। विमलचन्द्र पाण्डेय का कथन है कि बौद्ध एवं जैन धर्म ब्राह्मण धर्म के ही विरोधी नहीं थे वरन उनमें ब्राह्मणों की समाजिक श्रेष्ठता के प्रति क्षत्रियों की अस्वीकृति परिलक्षित होती है[96]। जातक ग्रन्थों में ब्राह्मणों को कृषक, पशुपालक सुनार, बुनकर, वैद्य, सारथी, पुजारी, अंगरक्षक, श्रमिक, पथप्रदर्शक, नौकर व सपेरे आदि का कार्य करते हुए बताया गया है। इसी प्रकार क्षत्रियों को भी जातक ग्रन्थों में मालाकार नलकार, कुम्मकार आदि व्यवसाय करते हुए बताया गया है[97]। फिर भी बौद्ध साहित्य में एक उल्लेखनीय तथ्य यह देखने को मिलता है कि उनमें क्षत्रियों का नाम ब्राह्मणों के पहले आता है। दीर्धनिकाय तथा निदानकथा में तो स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि क्षत्रियों का पद ब्राह्मणों से ऊंचा है[98]।

ब्राह्मणों की वर्ण विशिष्टता, वेद अपोरूष्येता, यज्ञ प्रधान कर्म काण्ड एवं प्रवृत्तिमूलक धार्मिकता के विरूद्ध जो विचार धारा प्रवाहित हो रही थी वे श्रमण विचार धारा में आत्मसात् हो गयी और उनकी सम्मिलित शक्ति ही निवृतिमार्गी जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म का आधार बनी। बौद्धो ने ब्राह्मणों की वर्ण व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया समाज की मूल व्यवस्था इस समय की वर्ण व्यवस्था पर आधारित थी। यद्यपि जैन तथा बौद्ध धर्म ने वर्ण व्यवस्था का प्रबल विरोध किया किंतु वर्ण व्यवस्था की जड़े समाज में इतनी गहरी थी कि उसे समूल नष्ट करना संभव नहीं था। बुद्ध और महावीर ने अपनी शिक्षाओं में इस बात पर बल दिया कि किसी व्यक्ति का कार्य जन्म से नहीं अपितु कर्म से निश्चित होना चाहिए। इन दोनों धर्मो के प्रवर्तकों के मूल सिद्धांत जाँत–पाँत के खण्डन पर बल देते थे। लौकिक जीवन में चरित्र और नैतिक़ता पर बल दिया जाने लगा। मिलिन्द पन्हो में उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मण जन्म से नहीं होता। ब्राह्मण वह है जिसका हृदय पवित्र है चरित्र शुद्ध है आत्मा मे

संयम तथा धार्मिक प्रवृति का है[९९]। मोक्ष की प्राप्ति में प्रत्येक को समान अधिकार है ऐसा बुद्ध का मत था। उनके अनुसार निर्वाण प्राप्ति के लिए वर्ण भेद निरर्थक था अर्थात स्वातिय, बम्हन, वैरस्स, सुख तथा चाडाल सभी दयालु हो सकते हैं और निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं[१००]।

गौतम बुद्ध का विचार था कि उच्च कुल में जन्म लेने मात्र से ही काई मनुष्य महान नहीं बन जाता बल्कि अपने सदाचार और उच्च चरित्र के कारण ही महान बनता है। अतः केवल ब्राह्मण ही मोक्ष प्राप्त करने के सुयोग्य पात्र नहीं होते। क्षत्रिय वैश्य, शूद्र सभी अपने पुरूषार्थ द्वारा स्वर्ग प्राप्त कर सकते हैं । एक स्थल पर बुद्ध ने कहा है कि न कोई जन्म से ब्राह्मण होता तथा कोई चाण्डाल। ब्राह्मणों के प्रभुत्व को प्रभावहीन करने के लिए बुद्ध ने अनेक तर्क दिये। उनका मत था कि यदि वेदों का अध्ययन–अध्यापन ब्राह्मणों का कर्म है, क्षत्रिय का राजत्व, कृषि, वाणिज्य वैश्यों का और सेवा कार्य शूद्रों का तो हम ब्रह्मवाक्य क्यों माने[१०२]? गौतम बुद्ध ने वर्ण व्यवस्था तथा कर्मकाण्ड परक ब्राह्मण धर्म के विपरीत मध्यम मार्ग अपनाते हुए एक ऐसे धर्म का प्रतिपादन किया जो जनसाधारण को अपनाने में सरलता हो। अतः बौद्ध धर्म भेदभाव परक न हो कर समता बोधक था[१०३]। ब्राह्मण धर्म में जहां वर्ण व्यवस्था मुख्य थी जिसमें मानव की सामाजिकता धार्मिकता जन्म से लक्षित होती है वहां जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म ने अपना क्षेत्र बढ़ा लिया था[१०४]। बौद्ध धर्म अपनी सरलता के कारण लोकप्रिय होता गया। भगवान बुद्ध की भाषा उपनिषदों की तरह सूक्ष्म तथा याज्ञिक कर्मकाण्ड की भाँति जटिल न होकर अत्यन्त सरल थी। बुद्ध द्वारा प्रतिपादित आचार प्रधान धर्म के द्वार सबके लिए खुले हुए थे। उसमें ब्राह्मण, शूद्र, स्त्री, पुरूष बराबर थे। यदि पुरूष भिक्षु हो सकता था तो स्त्री भी भिक्षुणी हो सकती थी[१०५]।

वस्तुतः उपनिषदों का तत्व चिन्तन ही धार्मिक सुधार के प्रेरणा स्रोत थे कर्म काण्ड तथा आडम्बर के प्रति प्रथम विरोध था जिसको बाद में जैन तथा बौद्ध धर्म के संस्थापकों यथा महावीर तथा गौतम बुद्ध ने अंगीकार किया। उपनिषदों में यज्ञ को टूटी नाव के समान बताया है[१०६]। याज्ञिक कर्म काण्ड तथा हिंसात्मक यज्ञों का जैन धर्म ने भी प्रबल विरोध किया। जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक वस्तु तथा अणुमात्र तक में जीव विद्यमान है। इस प्रकार हिंसक यज्ञों के प्रति लोगों का विश्वास डगमगाने लगा।

ब्राह्मण धर्म द्वारा प्रतिपादित आश्रम व्यवस्था यद्यपि बौद्ध काल में भी प्रचलित थी। किन्तु इसका स्वरूप बदल गया था। अब दैनिक जीवन की नैतिकता शुद्ध एवं पवित्र आचरण सेवा संयम को अत्यधिक महत्व दिया जाने लगा। बुद्ध की शिक्षाओं को स्वीकार करने वाले गृहस्थ को उपासक कहते हैं। जब तक वे गृहस्थ के उत्तरदायित्व को पूर्णतः त्यागकर भिक्षुव्रत ग्रहण नहीं कर लेते थे, उन्हें गृहपति ही माना जाता था। बौद्धकालीन समाज में दो अन्य वर्गों की सत्ता भी थी। यथा भिक्षुक तथा परिव्राजक (संयासी) कोई भी भिक्षुसंघ का सदस्य होकर भिक्षुव्रत ग्रहण कर

सकता था। उसके लिए ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थाश्रम धर्म के पालन का प्रतिबन्ध नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि सभी आयु के लोग धनोपार्जन की चिन्ता छोड़कर भिक्षु का जीवन व्यतीत करने को तत्पर रहने लगे। इस प्रकार आश्रम व्यवस्था का पूर्व स्थापित स्वरूप कायम न रहा। बौद्ध साहित्य में अनेक ऐसे उदाहरण हैं जिनसे ज्ञात होता है कि व्यक्ति ने अपना परिवार तथा संसार त्याग कर भिक्षुव्रत ग्रहण कर लिया[7]। बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म भी गृहस्थ जीवन को सुख का आधार नहीं मानता अपितु इस को व्याधिमूलक बताया गया है[8]।

बहुत संभव है जब बौद्ध धर्म अपनी सफलता के पथ पर अग्रसर हो रहा था लोगों ने ब्राह्मण धर्म की जटिलताओं से ऊब कर इसे सहज स्वीकार कर लिया होगा। इस धर्म को स्वीकार करने वालों में ब्राह्मण भी रहे होंगे। क्योंकि विद्वानों का होना बौद्ध धर्म ने स्वीकार किया था। जातक युग के राजाओं कें यहां पुरोहितों का बड़ा आदर था। क्योंकि वे परम विद्वान् ब्राह्मण होते थे[9]। बौद्ध धर्म को स्वीकार करने के लिए विशेष कर्मकाण्ड तथा पौरोहित्य की आवश्यकता न थी। इसके विधि विधान तथा तत्व ऐसे न थे कि जनसाधारण समझ न सके। इस धर्म के विपरीत ब्राह्मण धर्म अपनी कठोर तथा एकांगी नीतियों के कारण जन–साधारण की सहानुभूति खो चुका था। ब्राह्मणों द्वारा बौद्ध धर्म ग्रहण करने की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि जब भगवान बुद्ध उस बेला पहुंचे जब वहाँ के अग्नि होत्री जटिल ब्राह्मणों के बौद्ध धर्म स्वीकार किया[10]। सारी पुत्र एक ब्राह्मण था जिसने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। इसी प्रकार मोदिगल्यायन भी महात्मा बुद्ध के शिष्य बन गये। महावग्गा में संजय का वर्णन आया है जो ब्राह्मण धर्म का प्रधान होते हुए भी बाद में बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गया[11]। ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः उन ब्राह्मणोंने जिन्होंने महात्मा बुद्ध से तर्क किये उनकी शिक्षाओं से प्रभावित होकर ब्राह्मण धर्म की परम्पराओं तथा रीति रिवाजों को त्याग कर बुद्ध के उपासक हो गये तथा बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया[12]। कोशक के अनेक प्रभावशाली तथा समृद्ध ब्राह्मणों द्वारा बौद्ध धर्म स्वीकार करने के उल्लेख मिलते हैं[13]। इस प्रकार जब ब्राह्मण धर्म सेतु स्तम्भ ही टूट गये तो ब्राह्मण धर्म क्यों न क्षति उठाता ?

बौद्ध संघों में जो शिक्षा आदि का प्रबन्ध था वह सब विद्वान ब्राह्मणों को सौंप दिया गया था क्योंकि आचार्य का पद भी ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित था[14]। यदि उच्च कोटि के विद्वान पुरोहितों को न रखा जाता तो विद्या नष्ट हो जाती। संभवतः इसीलिए भगवान बुद्ध ने इस बात पर जोर दिया कि ब्राह्मण कैसा हो[15]। यहां तक कि ब्राह्मण को एक स्थान पर बौधिसत्व द्वारा नमस्कार करते हुए भी दिखाया गया है।

ये ब्राह्मण। वेद गुसव्व धमे ते में नमो ते च मं पालयन्तु[16]।

अर्थात जो ब्राह्मण समस्त धर्मों का ज्ञाता है। अथवा पारंगत है उन्हें नमस्कार करता हूं, वे मेरी रक्षा करें। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध युग में विद्वान ब्राह्मण का

तो सम्मान था, किंतु ब्राह्मण वर्ण को हेय दृष्टि से देखा जाता रहा होगा। क्योंकि ब्राह्मणों का सम्बन्ध यज्ञ, दान दक्षिणा से अधिक रह गया था जिनमें हिंसात्मक यज्ञों की प्रधानता थी। यज्ञ ही उनकी आय के प्रमुख स्रोत थे। अतः यज्ञों का विरोध होने से अनके व्यवसाय को ठेस पहुंची जिनमें 16 तथा 17 पुरोहित या इससे भी अधिक भाग लेते थे।

विद्वान ब्राह्मण आचार्यों को तिरस्कृत करने की भूल बुद्ध ने कभी नहीं की। वे स्वंय वेद पारंगत ब्राह्मण का सम्मान करते थे। बुद्ध ने पांच प्रकार के ब्राह्मणों का उल्लेख किया है। यथा–ब्रह्मसम–जो ब्रह्म में लीन रहते थे, देवसम–जिनका चरित्र देवताओं के समान पवित्र था। मरियाद–जो ब्राह्मण जाति के नियमों का पालन करते थे, संभिन्न मरियाद– जो जाति के नियमों का पालन करते थे तथा पांचवे प्रकार के ब्राह्मण वे थे जो चाण्डाल के समान जीवन व्यतीत करते थे। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मणों में कुछ सचरित्र भी थे जो तीन वेद तथा अठारह विद्याओं का अध्ययन करते थे। शील और विद्वता इनके प्रधान गुण होने के कारण गुरू तथा पुरोहित के रूप में इनका सर्वत्र आदर किया जाता था[117]।

प्राचीन काल के आचार्यकुल या गुरूजनों का स्थान अब विहारों ने ले लिया था। आचार्यकुल का स्वरूप घर परिवार के समान होता था जहां गुरू–शिष्य में पिता पुत्र का सम्बन्ध होता था किन्तु विहारों में यह स्थिति न रह सकी। विहारों में बहुत से भिक्षु या विधार्थी निवास करते थे, जो सामुदायिक रूप से जीवन व्यतीत करते थे। अतः अपने गुरूओं से उनका वैसा व्यक्तिगत सम्पर्क संभव न था जैसा कि गुरूजनों में रहता था। संख्या अधिक होने के कारण उनके अध्ययन के लिए बहुत से आचार्य एवं अपाध्याय रहते थे। उपाध्याय विनय पिटक की तथा आचार्य सदाचरण की शिक्षा दिया करते थे। आचार्य एवं उपाध्याय के लिए कम से कम 6 वर्ष का भिक्षु जीवन व्यतीत करना आवश्यक था तभी वह अध्यापन कार्य कर सकते थे[118]। धार्मिक क्षेत्र में पुरोहित के प्रभुत्व पर कुठाराधात तो हुआ किंतु प्रशासनिक क्षेत्र में उनकी स्थिति इस काल में भी महत्वपूर्ण थी। जातक ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर आमात्यों का वर्णन मिलता है। ये आमात्य राजा को शासन संबंधी विषयों में परामर्श देने का कार्य करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि जातक ग्रन्थों में जिन आमात्यों का वर्णन मिलता है उसका अभिप्राय मन्त्रीपरिषद से रहा होगा। आमात्यों में सबसे प्रधान स्थान पुरोहित का था[119]। पुरोहित इस युग में भी राजा के धर्म और अर्थ दोनों का अनुशासक था। एक बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार प्रथम राज्य, जिसे महासम्मत कहा गया है, को भी पुरोहित नियुक्त करने की आवश्यकता हुई थी[120]। पुरोहित का पद प्रायः वशांनुगत होता था अर्थात एक ही परिवार के व्यक्तियों को वंशक्रमानुगत से पुरोहित के महत्वपूर्ण पद पर नियुक्त किया जाता था[121]। किन्तु फिर भी उसकी योग्यता का विशेष ध्यान रखा जाता था अर्थात सचरित्र एवं विद्वान ब्राह्मण को ही

इस पद पर नियुक्त किया जाता था। अनेक बार पुरोहित की नियुक्ति पर विवाद के संकेत भी जातक ग्रन्थों में मिलते हैं[122]।

पुरोहित के सम्बन्ध में जो विचार प्राचीन नीति गन्थों में उपलब्ध होते हैं वही धारणायें बौद्ध युग में भी विद्यमान थी। जातक ग्रन्थों में आये विवरणों से इसकी पुष्टि होती है। इस काल में भी पुरोहित से यह अपेक्षा की जाती थी कि प्रशासनिक कार्यों में वह राज्य का उचित मार्ग निर्देशन करें तथा शील आदि की शिक्षा देकर पथभ्रष्ट राजा को धर्मानुकूल शासन की प्रेरणा दे[123]। राजा से भी यही अपेक्षा की जाती थी कि वह पुरोहित के निर्देशों का अनुसरण उसी प्रकार करें जैसे पुत्र पिता का तथा शिष्य गुरू का करता। तिल मुट्ठि जातक के अनुसार बनारस के राजा ब्रह्मदत्त ने तक्ष शिला के अपने आचार्य को पुरोहित पद पर नियुक्त किया था और वह उनका इसी प्रकार अनुसरण करता था जैसे पुत्र अपने पिता का आदर करता है[124]। कतिपय उद्धारण जातकों में ऐसे भी उपलब्ध होते है, जब राजा दुष्ट पुरोहित के प्रभाव में आकर अत्याचारी शासक बन गये तथा दुर्गति को प्राप्त हुए। पदकुशलमाण्व जातक में एक अत्याचारी राज्य का वर्णन आता है कि राजा और उसका ब्राह्मण पुरोहित राष्ट्र पर अत्याचार कर रहे हैं। अब तुम लोग अपनी रक्षा स्वयं करो। जहाँ तुम्हें शरण मिलनी चाहिए वही स्थान अब भंयकर हो गया है[125]। इसी प्रकार खण्डहाल जातक में पुष्पवली नगरी के राजा की कथा मिलती है। जिसका पुरोहित खण्डहाल नाम का ब्राह्मण था। उसके प्रभाव में आकर राजा पथ–भ्रष्ट हो गया तथा स्वर्ग प्राप्ति की अभिलाषा से उसनें अपनी स्त्री बच्चों तथा प्रजा के मुख्य व्यक्तियों की वलि देने का विचार बना लिया। अन्ततः प्रजा ने विद्रोह करके ब्राह्मण पुरोहित की हत्या कर दी तथा राजा को देश से निर्वासित कर दिया[126]। उपरोक्त विवरणों से जहाँ एक और यह ध्वनित होता है कि प्रजा अत्याचारी शासक के विरूद्ध विद्रोह कर उसे पदच्युत कर सकती है वहीं दूसरी और यह भी प्रमाणित होता है कि बौद्ध युग में भी पुरोहित राजा को किस सीमा तक प्रभावित कर सकता था। वस्तुतः यदि देखा जाये तो शासन तंत्र पर अब भी पुरोहित हावी था। तथा राजा पुरोहित का अत्याधिक सम्मान करते थे[127]। ऐसी धारणा थी कि स्पष्ट हो जाने पर पुरोहित राजा तथा राज्य का अहित कर सकता है। दीर्घ निकाय में वर्णित महाविजित राजा की कथा इसका प्रमाण है जिसमें राजा पुरोहित से अपने हित तथा सुख के लिए यज्ञ सम्पन्न करने हेतु आग्रह करता है[128]।

इस प्रकार छठी ई० पू० एक नव चेतना का युग अवश्य था जिसने ब्राह्मण धर्म में व्याप्त कुरीतियों तथा धार्मिक आडम्बर युक्त कर्मकाण्ड, हिंसात्मक यज्ञ सामाजिक अंधविश्वास पर प्रबल कुठाराधात किया जिससे ब्राह्मण की समाज में प्रभुता प्रभावित हुई परिणाम यह हुआ कि पौरोहित्य प्रथा भी प्रभावित हुई। तत्कालीन परिस्थितियों में यह स्वाभविक भी था। परिवर्तन संशोधन तथा पुनरावृत्ति ऐतिहासिक प्रक्रियायें जो समय–समय पर प्राचीन मान्यताओ को झकझोर कर उन्हें जागृत

करके कुछ सोचने समझने को विवश करती है। जैन तथा बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव तत्कालीन समाज में पौरोहित्य प्रथा द्वारा प्रोत्साहित सामाजिक तथा धार्मिक बुराइयों तथा समाज में ब्राह्मण की सर्वोच्चता के निराकरण हेतु आवाज का परिणाम था जिसे क्षुब्ध जनता से स्वीकार किया[29]। यहाँ तक कि अनेक ब्राह्मणों ने भी इस नवीन विचारधारा का स्वागत किया। ब्राह्मणों की दयनीय स्थिति का आभास इसी तथ्य से लग जाता है कि उनके पद महत्व तथा उनके द्वारा प्रतिपादित व्यवस्थाओं पर कुठाराधात हो रहा था किंतु वे स्वयं किंकर्तव्यविमूढ़ होकर मूक दर्शन बने रहे। अपमान तथा द्वेष की भावना से ऊपर उठकर अपने को परिस्थितियों के अनुरूप परिमार्जित कर लिया। यद्यपि ब्राह्मण धर्म कालान्तर में कई सदियों तक मुख्य धर्म नही रहा परन्तु लुप्त भी नहीं हुआ। वस्तुतः देखा जाय तो इस क्रान्तिकारी परिवर्तन का प्रभाव धार्मिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में भी पड़ा। अभी तक धर्म तथा राजनीति पृथक–पृथक शक्तियां थी। धर्म का प्रतिनिधि राजपुरोहित था। राजनीतिक क्षेत्र में भी यद्यपि पुरोहित का प्रभुत्व था किंतु वास्तविक सत्ताधारी राजा था किंतु छठी श० ई० पू० की धार्मिक क्रान्ति के परिणाम–स्वरूप इस व्यवस्था में भी परिवर्तन आया अर्थात धर्म को राज्याश्रय की आवश्यकता पड़ी। अब राज्य धर्म एवं शासन का समान रूप से प्रतिनिधि बन गया।

संदर्भ सूची

1. वशिष्ठ धर्म सूत्र 13/59-60।
2. चत्वारो वर्णा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रः तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान आप० ध० सू० 1, 1, 1, 4, 5।
3. दशवर्षश्च ब्राह्मण शतवर्षश्चः क्षत्रियः पितापुत्रौ स्म तौ 1,4,14,23/ विधि तयोस्तु ब्राह्मण पिता। आ० ध० सू०।
4. यत्तुषडभि————————परिहार्यश्चेति। गो० ध० सू० 8/5/11/5-9।
5. अवध्यो वै ब्राह्मणः——————— बिषयान्निर्वमनम्। वो० ध० सू० ।
6. आ० श्रौ० सू० 18/12/7।
7. गो० ध० सू० 8/21.।
8. आश्वलायन श्रौत सू०–4/1/6 आप० श्रो० सू०–10/1/9।
9. गो० ध० सू०–23/21।
10. आपस्तम्ब ध० सू०2/5/12/13-14।
11. शाख्यायन गृह सू०–1/10/7।
12. गो० ध० सू०–23/21।
13. आपस्तम्ब ध० सूत्र 2/5/12/13-14।

14. वो० गृ० सू० 1/12।
15. आपस्तम्ब गृ० सू० 1/1/2-3।
16. आपस्तम्ब ध० सू० 11,12।
17. वि० ध० सू० 23,13।
18. आप० ध० सू०1,5, 16, 24-29।
19. आप० ध० सू० 1,7.21,7-11।
20. आप० धव सू० 1,7.12,12,-18।
21. आप० ध० सू० 1,9.24,69।
22. आप० ध० सू०–2,5,10,41,-61/।
23. वशिष्ठ ध० सू०–19/42-43।
24. गौतम ध० सू०–18/12-13।
25. द्वौ लोके धृतव्रतौ राजा ब्राह्मणश्च बहु श्रुतः गौ० ध० सू० 8/1।
26. रामागोपाल–इण्डिया आफ वैदिक कल्प सूत्र पे० 176।
27. आप० श्रौ० सू०–12/7/6 का० श्रौ० सू० 22/5/11।
28. डा० अल्तेकर प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पृ० 123।
29. श्रोत्रिया वाग्स्मपवयः शील सम्पन्नान–गौ० ध० सू० 1/5/98/2,6/9।
30. आप० ध० सू० 2/4/9/9-10/।
31. आप० ध० सू०13/5/1-13/7/15।
32. कात्यायन 10/2/39।
33. कात्यायन 10/2/39।
34. शां० गृ० सू०– 4/1/9-19।
35. आश्व० गृ० सू०4/7/2-3।
36. गो० ध० सू० 15/2/7-9।
37. "राजा च सर्वकार्येषु, सावत्सराधीन" विष्णु धर्म सूत्र 3/75।
48. गौ० ध० सू० 11/15।
39. अध्यायये दयी यीत या जयेत वा।
    न वृथा प्रति गृहीयान्न च दद्यात कथं चन।। शन्ति अ० 234 श्लोक।।
40. अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
    दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः।। मनुस्मृति अ० 10 श्लोक 75।
41. कृतस्वस्त्ययनं मात्रा पित्र दशरथेन।
    पुरोधसा वसिष्ठेन मंगलैरभिमन्त्रितम ।। रामायण 1/22/2।
42. विमलक्षौमसंवी तो वाचयामास स द्विजान् रामा० 2/6/7।
43. रामायण 2/25।
44. ततः स्नात्व यथा न्यायं सन्तर्प्य पितृदेवताः।

हुत्वा चै वाहिग्न होत्राणि प्राश्चचामृत वद्धति।। 1/34/-8-रामा०

45. ततः प्रभाते जनकः कृतकर्मा महर्षिभिः।
उवाज वाज्यं——————।। रामा० 170/1।

46. कौसल्या सुप्रजा राम पूर्वा सन्ध्या प्रवर्तते।
उत्तिष्ठ नरशार्दूल कर्तव्यं दैवमाह्निकम्।। रामा० 1/22/2।

47. आश्वासितो लक्ष्मणेन रामः सन्ध्यामुपासत।
स्मरन्कमलपत्राक्षीं सीतां शोकाकुली कृतः ।। रामा० 6/5/22।

48. ज्विभिगुर्ण सम्पनै ब्राह्मणै वेंदपारगैः।
भूयिष्ठमृद्धिराकीर्णी————।। रामा० 2/71/20।

49. कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः।
हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते सदा।। 2/100/12 रामायण

50. येज्ञिच्छिद्रं भवत्येतत्सवाषाम शिवायः नः 1/39/10 रा०

51. रामायण-7/91/3, 1/13-4/।

52. रामायण-1/34/12/।

53. निष्कारणं स्मृतं दत्तं ब्राह्मणे ब्रह्म्म वर्जिते।
भवेदपात्रदोषण न चालस्ति विचारणाः।।
ग्रामो धान्यर्थतो शून्यों यथा कूपश्च निर्जलः।
यथा हुतमनग्नौ च तथैव स्यान्निकृतौ।। महा० 12/36/41।

54. अबध्य सर्व भूतानां ब्राह्मणाह्यनलोपमः। महा० 1/28/3।

55. राज्ञा परोहितः ——————— समायत्ता पुरोहिते।।
महाभारत शान्ति पर्व अ० 74 श्लोक।

56. जितेन्द्रियो धर्मपरः स्वाध्याय निरतः शुचि।
कामक्रोधौ वशौ यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः।।
वन पर्व अध्याय श्लो० 34½।

57. नाषडंग विदत्रा सीन्नवृतो नाबहुश्रुतः।
सदस्या तत्र वै राज्ञो नावादकुशलो द्विजः।। रामा० 1/14/2।

58. कार्मान्तरे तदा विप्रा हेतु वादान्वह्न पि।
प्राहुः सुवासि नी सुवाग्निमनो धीराः परस्परजिगीषया।। रामा० 1/ 14/19।

59. कच्चिद् विनयसम्पन्नः कुलपुत्रो बहुतश्रुत अनसुपुर नुप्रष्ठा सत्कृतस्ते पुरोहितः।।5/29 सभापर्व

60. महाभारत शान्ति पर्व 72/1/2।

61. महाभारत, अनुशासन पर्व 137/12, शान्ति पर्व -329/50।

62. महाभारत, अनुशासन पर्व 137/12, शान्ति पर्व -84/50।

63. महाभारत, अनुशासन पर्व 137/12, शान्ति पर्व -41/14।
64. महाभारत अनुशासन आदि पर्व– 176/6-10।
65. भीष्म का राज धर्म (डा० श्यामलाल पाण्डेय) पृ० 43।
66. भगवतशरण उयाध्याय– प्राचीन भारत का इतिहास–पटना पृ०73।
67. स एव राज्ञा कर्तव्यो राजन् राजपुरोहितः।। महा० शन्ति पर्व 72/1।
68. तेषां त्र्याणां विधि विमर्ष विबुध्य चितं विनिवेश्यते।
स्व निश्चयं तत्प्रतिनिश्चयज्ञं निवेदयेदुत्तर मंत्रकाले।। इत्यादि।।
शान्ति पर्व 83/53/54।
69. कृत्वा तेने र्ऋतादददर्भाधीरो द्योम्य पुरोहितः।
सामानि गाययाम्यानि पुरतो याति भारत।।। इत्यादि– सभा पर्व-80/22।
70. स भ्रातृभि पु नर्धी मानृत्विरि भश्च महात्मभिः।
द्यौम्य द्वैपायनाद्येष्च मन्त्रयामास मन्त्रिभिः।। 12/18सभा पर्व
71. अथ यज्ञ विभूति तां काङसे भरतर्षम्
ऋत्विजस्तव तन्वन्तु सप्ततन्तु महाध्वरम्।। 50/4 सभा पर्व
72. परोहितः सोम कानां मन्त्र विद ब्राह्मण शूचि।
परिस्तीर्थ जुहावाग्नि भाज्येन विधिवत्तदा।। आदि पृ० 185/31।
73. मां वा वृणीष्व भद्रं ते मरूत वा महिपतिम।
परित्यज्य मरूतं वा यथा जोषं भजस्व माम।। अश्व 5/21।
74. पोरोहित्यमहं जाने विगहर्ष दूस्य जीवनम्। इत्यादि रामायण आयो० का०2/28।
75. असीनेच श्यानच्च पिता ते पितंरमम् स्तौति बन्दीव चाभीक्ष्णं नीचः स्थित्वा विनीतवत्। महा० आदि पर्व 78/9-10।
76. महाभारत कर्ण पर्व 26/8-9।
77. अधिवासित शस्त्राश्च कृत कौतुल मंगला–महा० उद्योग पर्व 15/1/38।
78. अनीकयोः संहतयोर्य दीयाद् ब्राह्मणोन्त्तरां।
शान्ति मिच्छ न्नुभयतो न यो द्वव्यं तदा भवेत्।। महा० शान्ति पर्व 96/8-10।
79. स्वाध्याय एषां देवत्व तप एषां सतामिष।
मरणं मानुषो भावं परिवादोडसतायिव।। महा० वन पर्व अ० 313/50।
80. आप्टे बी० एम० सोसल रिलिजिअस लाइफ इन दि गृह सूत्राज पृ० 12-13।
81. ब्राह्मणो ——————— विराजते महा० वन पर्व 303/16।.
82. देवायतन———————स्युर्माल्यभोग्याः।। रामायण /2/3/18-9।
83. रामायण अयोध्या काण्ड 43/4।
84. महा० शन्तिपर्व 86/28।

85. पं० जवाहरलाल नेहरू हिन्दुस्तान की खोज।
86. जे० एस० स० नेगी– ब्राउंड वर्क्स आफ एशियेंट इण्डियन हिस्ट्री
87. राज बाली पान्डेय– प्राचीन भारत पृ० 82-83।
88. ते० से० 17/11 शत० ब्रा० 4/3/4/4।
89. महा० आदि पर्व– 76/23-24।
90. डा० सत्यकेतु–भारतीय संस्कृति और इतिहास पृ० 142 ।
91. जयचन्द्र विद्यालंकार– भारतीय इतिहास की रूप रेखा जिल्द पृ०341।
92. दीघ निकाय।। 1,97-99।
93. गौतम धर्म सू० 11,19/।
94. आप० ध० सू० 2/24/25-28।
95. डा० ईश्वरी प्रसाद– प्राचीन भारतीय संस्कृति कला, राजनीति धर्म तथा दर्शन– पृ० 112-113।
96. विमलचंन्द पाण्डेय– भारत वर्ष का समाजिक इतिहास–पृ० 25।
97. जातक सम्पादित आनन्द कौसल्यायन प्रयोग
98. वही दीधनिकाय 3/1/24 निदान० 11/49।
99. मिलिन्द पन्हो 4/5/25/-26।
100. विमलचन्द पाण्डेय– भारतवर्ष का समाजिक इतिहास पृ० 225।
101. मज्झिम निकाय 2 पृ० 150।
102. जातक खण्ड 6 पृ० 208।
103. एन दत–हिस्ट्री आफ द स्प्रेड आफ बुद्धिज्म एण्ड बुद्धिस्ट मेथ्डस–12।
104. ई० जे० रेप्सन–एन्शियेंट इण्डिया–पृ० 68।
105. हरिदत्त वेदालंकार–भारत का सांस्कृति इतिहास–पृ० ७० दिल्ली –1962।
106. मुण्डक उप० 1/2/7।
107. चुल्लसुत्त सोमजातक 5/177।
108. उत्तराध्ययम 14/7,14/13।
109. मोहनलाल महन्तो वियोगी जातक कालीन भारतीय संस्कृति–पृ० 8।
110. जयंशकर मिश्र–प्राचीन भारत का समाजिक इतिहास–पृ० 822।
111. महावग्गा 1/51/1।
112. ओल्डन वर्ग, बुद्धा पृ० 382-83।
113. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय–बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास पृ० 57।
114. धम्म पद (ब्राह्मण वग्गो 26)
115. मोर जातक–159।
116. मोहन लाल महन्तो वियोगी–जातकालीन संस्कृति पृ० 8।

117. ओमप्रकाश–प्राचीन भारत का इतिहास–पृ० 112।
118. सत्यकेतु विद्यालंकार–प्रा० भा० का धार्मिक समाजिक और आर्थिक जीवन पृ० 262।
119. राधा कृष्णन– इण्डिया फिलासफी खण्ड 1 पृ० 350।
120. आचार्य रामदेव तथा सत्यकेतु विघांलकार–भारत वर्ष का इति० खण्ड–3, पृ० 392।
121. कावेल, जातक तृतीय भाग पृ०272।
122. कावेल ,जातक तृतीय भाग पृ० 237।
123. कावेल, जातक भाग 2 पृ० 33।
124. कावेल, जातक भाग 3 पृ० 97।
125. राजा विलम्पते– भजयम्।
126. कावेल, जातक खण्ड 6 पृ० 79।
127. रिचर्ड फिक–सोशल आरगेनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इण्डिया इन बुद्धिस्ट पृ० 143।
128. राहुल सांस्कृतायन दीर्ध निकाय पृ० 50।
129. एन० एन० घोष– आर्यो हिस्ट्री आफ इण्डिया– पृ० 59।

3

मौर्य तथा मौर्येत्तर काल में पौरोहित्य

छठी श० ई० पू० से प्रारम्भ होकर मौर्य साम्राज्य की स्थापना तक की अवधि में बौद्ध एवं जैन धर्म निरंतर प्रगति करते रहे। इस अवधि में इन दोनों धर्मों में अनेक सम्प्रदायों का विकास भी हुआ। महावीर तथा गौतम बुद्ध ने स्वयं मगध तथा अन्य राज्यों का भ्रमण किया और उपदेश दिये। मगध में विम्बिसार गौतम बुद्ध का समकालीन था तथा अपनी धार्मिक नीति में उदार था। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार बिम्बसार पर बौद्ध धर्म का प्रभाव सिद्ध होता है[1]। भारतीय संस्कृति के इतिहास में मौर्य युग का अपना एक विशिष्ट स्थान है। भारत के ऐतिहासिक युग में सर्वप्रथम इसी युग में संस्कृति का सभी क्षेत्रों में अभूतपूर्व विकास हुआ समाज, धर्म राजनीति आदि सभी धर्म क्षेत्रों में परिवर्तन हुए जिसके परिणाम स्वरूप भारतीय संस्कृति की पुनरावृति इस युग में दृष्टिगोचर होती है।

मौर्य साम्राज्य का समय चतुर्थ शताब्दी ई० पू० माना जाता है। इसके पूर्व छठी श०ई० पू० में बौद्ध धर्म जैन धर्म अस्तित्व में आ चुके थे। जिसके परिणाम स्वरूप ब्राह्मणों के प्रभुत्व को धक्का लगा था। किन्तु फिर भी हिन्दू धर्म पूर्ण रूप से लुप्त नहीं हुआ था। मौर्य काल के राजनीतिक इतिहास के समय में चन्द्रगुप्त तथा अशोक का शासन काल चिरस्मरणीय रहेगा। इन दोनों शासकों में चन्द्रगुप्त विलक्षण व्यक्तित्व का था। मौर्य साम्राज्य की स्थापना उसी के अथक परिश्रम का परिणाम था। इस कार्य में चन्द्रगुप्त मौर्य का मार्ग निर्देशन कौटिल्य ने किया जिन्हें चाणक्य के नाम से भी संबोधित किया जाता है। उन्होंने चन्द्रगुप्त का गुरू होने के साथ–साथ मन्त्री तथा पुरोहित के रूप में भी प्रशासकीय कार्यों में मार्ग निर्देशन किया[2]। एन०एन० ला मानते है कि कौटिल्य का चन्द्र गुप्त मौर्य के साथ केवल राजनीतिक सम्बन्ध था[3]। वस्तुतः कौटिल्य ने पुरोहित के रूप में चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य की सूक्ष्म से सूक्ष्म गतिविधियों का अध्ययन किया और राज्य की सुरक्षा की जिम्मेदारी को जिस सोच एवं नीति के द्वारा निभाया वह चाणक्य नीति के नाम से प्रसिद्ध हुई। सिकन्दर के आक्रमण के समय यूनानी इतिहासकारों के यात्रा संस्मरणों में ब्राह्मणों द्वारा राजाओं को सलाह देने का विवरण उपलब्ध होता है। उस समय ब्राह्मण शास्त्रविज्ञ ही नहीं थे, अपितु उनकी शस्त्र कुशलता का भी पता चलता है।

महान, त्याग, उच्च आचरण और गम्भीर ज्ञान के प्रतीक माने जाते थे जिसके कारण ब्राह्मण अत्यन्त प्रतिष्ठा के पात्र भी थे। राजा उनकी सलाह से कार्य करते और प्राण तक दे सकते थे[4]। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार मौर्यकालीन सामाजिक व्यवस्था का जो चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है उसके अनुसार इस युग में भी समाज चार वर्णो यथा–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में विभाजित था। इस युग में भी ब्रह्मणों के वही कार्य निर्धारित थे जो इसके पूर्व निर्धारित किये गये थे यथा अध्ययन, अध्यापन यजन (यज्ञ करना) याजन (यज्ञ कराना) तथा प्रतिग्रह (दान ग्रहण करना) आदि। मेंगस्थनीज ने कही भी चातुर्वणर्य का उल्लेखन नहीं किया है। संभवतः वह अपने देश ग्रीस तथा पड़ोसी राज्य मिश्र की समाजिक रचना से परिचित था और उसी के आधार पर उसने भारत की तत्कालीन सामाजिक वर्गीकरण सात वर्गो में किया है। जो संभवतः व्यवसायपरक है[5]। इन सात वर्गो में एक वर्ग को उसने दार्शनिक के रूप में संबोधित किया है जिन्हें भारतीय परिवेश में ब्राह्मण श्रमण संघ से सूचित किया जाता है[6]। इस प्रकार यद्यपि बौद्ध तथा जैन धर्म के प्रसार के कारण वैदिक मान्यत्ताओं को प्रबल आघात लगा था फिर भी इस काल में वर्णाश्रम धर्म के पालन की मान्यताए थी तथा ब्राह्मण की स्थिति समाज में सम्मानित बनी हुई थी। मौर्य युगीन धार्मिक दशा का विश्लेषण करने पर विदित होता है कि इस समय वैदिक यज्ञों का पुनः प्रचार हो रहा था। मेगीस्थनीज ने लिखा है कि यज्ञों तथा श्राद्धों में कोई मुकुट धारण नहीं करता था। गृहस्थ लोग बलि देने के लिए ब्राह्मण की नियुक्ति करते थे। इससे स्पष्ट है कि उच्च वर्ग के लोग यज्ञ, हवन, बलि, पूजा, आदि का सम्पादन ब्राह्मणों द्वारा कराते थे। अतः वैदिक कालीन पौरोहित्य प्रथा की लुप्त प्रतिष्ठा इस काल में पुनः स्थापित हो रही थी। अन्तर केवल इतना था कि कर्मकाण्ड अब पूर्व की भांति जटिल नहीं रह गये थे।

पौरोहित्य कर्म प्रायः ब्राह्मण ही करते थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र में उल्लेख मिलता है कि पुरोहित का उसी प्रकार सम्मान करना चाहिए जैसे शिष्य गुरू का पुत्र पिता का तथा भृत्य स्वामी का करता है[7]।

पुरोहित की नियुक्ति के लिए यह आवश्यक था कि वह चारों वेदों, छः वेदागों, ज्योतिष (देव) (शकुन विचार) (निमित्त) (और शासनकला) (दण्ड नीति) तथा अथर्ववेद के प्रयोगो का पंण्डित हो[8]। इस प्रकार कोई साधारण ब्राह्मण पौरोहित्य कार्य नहीं कर सकता था। उच्च कुल में उत्पन्न, शील एवं सदाचार से युक्त वेद–वेदांगों तथा व्याकरण का पंडित, लोक व्यवहार में उत्तम, दैविक तथा मानसिक विपत्तियों से छुटकारा दिलाने में समर्थ ब्राह्मण को पुरोहित बनाया जाता था। आदर्श तथा कुलीनता पर अधिक बल प्रदान किया गया है। पुरोहित का नीतिशास्त्र, व्यूह रचना आदि में पारंगत होना भी प्रशासनिक दृष्टि से आवश्यक माना गया था।

मौर्य युगीन समाज में भी ब्राह्मणों के जो कार्य निर्धारित किये गये है। उससे यह स्पष्ट होता है कि पौरोहित्य का कार्य ब्राह्मण ही करते थे। ब्राह्मणों के लिए निम्न

कार्य थे यथा–(1) विधार्थी (2) गृहस्थ (पुरोहित और आचार्य) (3) सन्यासी अथवा श्रमण (जो फल पत्ती खा कर रहते थे, किंतु बौद्ध नहीं थे) (4) स्वतन्त्र विचार धारा के विद्वान (5) गिमेतई अथवा जैन साधु जैसे नग्न तपस्वी[९]। यह आवश्यक न था कि विद्यार्थी केवल ब्राह्मण ही हो सकता था। अपितु सभी वर्णो की शिक्षा व्यवस्था थी। मौर्य युग में यद्यपि शिक्षा के स्वरूप के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं मिलती फिर भी इतना स्पष्ट है कि यह कार्य आचार्य तथा श्रोत्रियों के हाथ में था जिन्हें राज्य की ओर से भूमि प्रदान की जाती थी। कौटिल्य ने लिखा है कि ऋत्विक आचार्य, पुरोहित तथा श्रोत्रियों को इतनी भूमि प्रदान कर दी जाये जिससे प्रभुत आय हो तथा उस पर कर न लिया जाये। कौटिल्य ने राजकीय व्यय का निरूपण करते हुए जो देव पूजा का उल्लेख किया है वह आचार्य श्रोत्रिय आदि शिक्षक वर्ग को राज्य की ओर से प्रदान किये जाने वाले पूजावेतन का द्योतक है। इस प्रकार के वेतन भोगी शिक्षक पूर्णतया राज्य के अधीन थे। इसी लिए कौटिल्य ने यह व्यवस्था भी दी है। कि आदेश देने पर भी यदि आचार्य पुरोहित शूद्र को विद्यादान करने से अथवा यज्ञ कराने से मना करें तो उसे दण्ड दिया जाय[10]। यह इस तथ्य का प्रतीक है कि पुरोहित अथवा आचार्य ब्राह्मण राजाज्ञा का उल्लंधन नहीं कर सकता था। अन्यथा दण्ड का भागी होता था। चूँकि कौटिल्य चन्द्रगुप्त मौर्य के आचार्य भी थे अतः चन्द्रगुप्त मौर्य ने प्रशासकीय कार्यों में मार्ग निर्देशन हेतु उन्हें प्रधानमन्त्री के रूप में रखा था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजकीय प्रशासन के विधिवत संचालन हेतु मंत्रिपरिषद के गठन पर बल प्रदान करते हुए कहा गया है। कि सम्राट को अवश्य ही सचिव नियुक्त करना चाहिए क्योंकि राज्यत्व सहायक सिद्ध है। सहायकों और परामर्शदाताओं के बिना वह चल नहीं सकता एक पहिए से राज्य की गाड़ी नहीं चलती। अतः राजा सचिवों की नियुक्ति करें और उनकी सम्मति सुनें।

"सहायसाध्यं राजत्व चक्रमेकं न वर्तते।
कुर्वीत सचिवांस्तसत्तेषां च श्रृणुयान्मतम कौ० अ० 1/3।।

कौटिल्य अर्थशास्त्र के अध्ययन से विदित होता है कि मौर्यकाल में शासन के विभिन्न अधिकरणों को तीर्थ के नाम से संबोधित किया गया है जिनकी संख्या 18 थी प्रत्येक तीर्थ एक–एक महामात्य तथा युवराज के अधीन था[11]। इन अठारह तीर्थों में मन्त्री, पुरोहित, सेनापति तथा युवराज प्रमुख थे जिनसे राजा परामर्श लेता था। मंत्री तथा पुरोहित यद्यपि दोनों पृथक पद थे परन्तु चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में इन दोनों पदों पर आचार्य चाणक्य नियुक्त थे। कौटिल्य अर्थशास्त्र में इन दोनों पदों का उल्लेख साथ–साथ ही मिलता है[12]। कालान्तर में राधा गुप्त जैसे प्रतापी आमात्य ने भी मन्त्री तथा पुरोहित दोनों पदों पर कार्य किया[13]। राजा प्रायः मन्त्री तथा पुरोहित के परामर्श से विविध अधिकरणों में अमात्यों की नियुक्ति करता था तथा उनके शौच (शुचिता) व अशौच (शुचिहीनता) की परीक्षा लेता था कि वे सर्वोपधोशुद्ध हैं या नहीं[14]। राज्य के अन्य समस्त अधिकरणों पर भी मन्त्री और

पुरोहित का नियंत्रण रहता था। उन्हीं की सम्मति से राजा प्रजा की स्थिति तथा गतिविधि जानने हेतु गुप्तचरों, विदेशों में राजदूतों की नियुक्ति करता था तथा परराष्ट् नीति का संचालन करता था। राज्य में शिक्षा का कार्य भी इन्हीं के अधीन था[15]। उल्लेंखनीय है कि इन पदों पर ब्राह्मणों की ही नियुक्ति की जाती थी।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि गृह तथा धार्मिक कार्यो की अपेक्षा मौर्य काल में राजनीतिक दृष्टि से पौरोहित्य शक्ति का प्रभाव अधिक था। किंतु यह प्रभाव पुरोहित के व्यक्तिगत गुणों पर ही निर्भर करता था। पुरोहित के लिए आवश्यक था कि वह वेदों, वेदागों ज्योतिष और शासन कला का ज्ञाता होने के साथ–साथ सर्वोपद्या शुद्ध अर्थात् काम क्रोध, लोभ मोह दुर्गुणों से मुक्त हो। सामान्यतः राजा इसके परामर्श की अवहेलना नहीं करता था क्योंकि ऐसी मान्यता थी कि उसके स्पष्ट होने पर राज्य की हानि हो सकती है। पुरोहित का एक अन्य प्रमुख कार्य– युद्ध में विजय हेतु धार्मिक अनुष्ठान करना भी था। प्रायः पुरोहित युद्ध तथा उससे पूर्व दोनों में विजय के निमित्त ऐन्द्राजलिक संस्कारों का विधान करता था। मौर्य युग में भी इस कार्य की पुनरावृति मिलती है। चाणक्य द्वारा चन्द्रगुप्त की रक्षा–उपाय किये जाने के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। उसने किस प्रकार चन्द्रगुप्त के जीवन की रक्षा की[16]।

चाणक्य का मत था कि पुरोहित तथा मन्त्री को यह अधिकार था कि वह राजा या युवराज को सावधान करे। पुरोहित द्वारा कार्य को करने से युवराज को रोका जा सकता था[17]। यदि मन्त्री पुरोहित आदि के दोष से उपद्रव खड़ा हो जाये तो उसके लिए दण्ड विधान भी था[18]। किंतु पुरोहित का वध नहीं किया जा सकता था क्योंकि वह ब्राह्मण होता था[19]। यद्यपि मृच्छकटिक से विदित होता है कि राजाओं ने ब्राह्मणों को प्राण दण्ड दिये हैं जैसे राजा पालक द्वारा चारूदत्त को प्राण दण्ड देने का उल्लेख है[20]। फिर भी राजा द्वारा अपने पुरोहित को दण्ड देने के उदाहरण प्रायः कम ही मिलते है।

यहां पर यह स्पष्ट करना अत्यन्त आवश्यक है कि जैन तथा बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण ब्राह्मण धर्म पर जो कुठाराघात हुआ उसके फलस्वरूप ब्राह्मणों में भी अपने अधिकारों की रक्षा के लिए संगठन का महत्व आवश्यक प्रतीत हुआ होगा। जिसके कारण ही ब्राह्मण नामक जनपद का विकास हुआ होगा जिसका पतंज्जलि ने वर्णन किया है। पाणिनि ने भी राज ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ ब्राह्मण राजा से लिया जा सकता है तथा राजा के ब्राह्मण से भी लिया जा सकता है। इस प्रकार ब्राह्मण राजा था या राजा से सम्बन्धित व्यक्ति दोनों अर्थों से स्पष्ट है कि ब्राह्मण का स्थान महत्वपूर्ण था।

यही कारण रहा होगा कि चाणक्य ब्राह्मण होते हुए भी राज सत्ता परिवर्तन में सफल हो सका। इसके साथ ही ऐसा भी प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों के प्रति क्षत्रियों की उदासीनता का भी प्रतिशोध चाणक्य में हो सकता है। क्योंकि बौद्ध धर्म का उदय

मौर्य साम्राज्य से पहले हो चुका था तथा जैन व बौद्ध धर्म प्रवर्तकों का सीधा सम्बन्ध राजवंशों से था तथा इन धर्मो के प्रसार में राज्याश्रय प्रमुख था। महापद्म नंद शोषण और ब्राह्मण विरोधी नीति का पोषक प्रतीत होता है[21]। लेकिन उस युग में दो प्रकार के ब्राह्मणों का वर्णन आया है– एक वे लोग जो प्रकृति व धर्म का अध्ययन करते थे तथा दूसरे वे ब्राह्मण जो राजनीतिक क्षेत्र में भाग लेते थे। तथा राजा को मन्त्री के रूप में सलाह दिया करते थे[22]।

ब्राह्मण वर्ग का जो स्थान प्राचीन काल में स्थापित हो चुका था उसी का अनुसरण यहाँ भी स्पष्ट होता है तथा ब्राह्मण के जो कार्य नियत किये गये उनका पालन करना नहीं छोड़ा था अपितु उत्तरवैदिक काल में इस वर्ग ने अपनी स्थिति अधिक आडम्बर युक्त बनायी जिसके कारण जैन तथा बौद्ध जैसे धर्मों ने अधिक आदर प्राप्त किया। लेकिन ऐसा नहीं था कि विद्वान ब्राह्मण का आदर न किया जाता हो। विद्वान पुरोहित का स्थान समाज तथा राज्य दोनों में था, दार्शनिक लोग पुरोहित थे तथा उन्होंने अपने ज्ञान एंव धार्मिक क्रियाओं से राष्ट्र तथा समाज की रक्षा की। पुरोहितों द्वारा धार्मिक कृत्य सम्पन्न करने हेतु उन्हें दक्षिणायें दी जाती थी[23]।

दक्षिणा प्राप्त करना ब्राह्मण का अधिकार था क्योंकि उससे उसकी आजीविका चलती थी। किन्तु कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है कि पुरोहित का वेतन मन्त्री के समान ही होना चाहिए। उन्होंने वेतन की दृष्टि से ऋत्विक, आचार्य पुरोहित, सेनापति युवराज, राजमाता, राज महिषी आदि को अड़तालीस सहस्त्र पण वार्षिक वेतन की संस्तुति की[24]। उनका मत था कि इतना वेतन पाने का कारण लोभ के वशीभूत होकर भ्रष्टाचार का मार्ग नहीं अपनायेंगे तथा संतुष्ट रहेगें।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि इस काल में पुरोहित केवल दान पर निर्भर न था वरन वह एक अच्छा वेतन भोगी भी था। किंतु यह स्थिति सामान्य पुरोहित पर लागू न थी। पुरोहित या पुजारी तो केवल दान दक्षिणा से ही अपना जीवन यापन करते रहे होंगे। साधारण लोगों के यहां धार्मिक यज्ञ एवं संस्कार कार्य ऐसे ही पुरोहितों द्वारा सम्पन्न किया जाता रहा प्रतीत होता है। आम देशवासी अपने जीवन काल में निर्दिष्ट यज्ञों को सम्पन्न कराने के लिए मृत–आत्माओं को पिण्ड दान आदि करने के लिए दार्शनिकों एवं पुरोहितो की सहायता लेते थे उन सेवाओं के बदले उन्हें बहुमूल्य उपहार तथा विशेषाधिकार प्रदान करते थे[25]। वस्तुतः ब्राह्मण, पुरोहित, पुजारियों की तरफ यह सीधा संकेत है कि उस युग के धर्माधिकारी इस प्रकार धन प्राप्त करते थे। राज्य में शान्ति स्थापित करने में पारंगत होना अपेक्षित था, जिससे प्रजा को हानि पहुंचती है। कौटिल्य ने ऐसे आठ प्रकार के प्रकोपों का वर्णन अर्थशास्त्र में किया है–

"देवान्यस्टो महाभ्यानि। अग्नि रुदकं व्याधिर्दुर्भिक्षं मूषिका व्याल[illegible] रक्षासीति। तेभ्यो जनपद रक्षेत।" कौ० अर्थ० 4/3

इस प्रकार अग्नि, जल, बीमारी, दुर्भिक्ष, चूहे, व्याघ्र, सर्प, राक्षस ये आठ

महाभय कौटिल्य द्वारा स्वीकार किये गये जिनसे प्रजा को कष्ट पहुंचता है। कष्ट तो प्रजा को इससे भी अधिक महसूस होते हैं लेकिन इनसे चाणक्य का अर्थ केवल पुरोहित के विषय में था। पुरोहित को इन कष्टों को दूर करना या कराना चाहिए था। इस प्रकार धार्मिक बातों की पुरोहित में प्रायः समाविष्टि आवश्यक थी तथा उसका धर्म तन्त्र से गहरा सम्बन्ध था। यदि पुरोहित शान्ति कर्म जानता है तो पूर्ण –मासी आदि तिथियों में अग्नि की पूजा, बलि, होम तथा स्वस्ति वचनों से इन कष्टों से प्रजा की रक्षा कर सकता है। इसी प्रकार से जल के प्रकोप से बचने के लिए भी पूर्णमासी को नदी की पूजा कराकर मन्त्रोंनुसार अतिवृष्टि को रोकना चाहिए। यदि जनता में बीमारी या महामारी फैल जाये तो गंगा आदि पवित्र नदी में स्नान करा कर समुद्र की पूजा करावे तथा सत्तु और चावल द्वारा मानव का सिर बना कर एक (गबन्ध) बनाकर शमशान में जलवाये। पशुओं में फैली बीमारी का निवारण करने के लिए पशुओं के देवताओं की पूजा यत्र तत्र करवानी चाहिए। भिन्न–भिन्न पशुओं के अलग–अलग देवताओं का भी उल्लेख है[26]।

इन सब रोग आदि व्याधियों से छुटकारा वैध तो दवा से दिलाते हैं लेकिन पुरोहित के पास एक ऐसी शक्ति है तो अपने शान्ति कर्म द्वारा शान्त करते हैं। यदि राज्य में अकाल पड़ जाये तो पुरोहित को चाहिए कि राजा द्वारा प्रजा में खूब अन्न बटवाये यहाँ पर यह प्रतीत होता है कि यह पुरोहित का कर्तव्य था कि राजा को निर्देश दे कि प्रजा के कल्याणकारी कार्य को देखे। यह इस तथ्य का भी प्रतीक हैं कि पुरोहित का सम्बन्ध प्रजा तथा राजा दोनों से था। अर्थशास्त्र के अध्ययन से पता चलता है कि पुरोहित के वैदिक कालीन कार्यों पर ही कौटिल्य ने जोर दिया है। विमलचन्द पाण्डेय के अनुसार ब्राह्मण व्यवस्था का पोषक था[27]। यहां पर हमें ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्र गुप्त मौर्य के समय तक पुरोहित यज्ञों में बलि का प्रयोग करते थे, जो प्राचीन काल में निषेद्ध था। मौर्यो ने कभी भी ब्राह्मण धर्म पर आक्षेप नहीं किया[28]। चन्द्र गुप्त ने अपने जीवन के अंतिम भाग में जैन धर्म स्वीकार कर लिया था। फिर भी वह ब्राह्मण धर्म का अत्यधिक सम्मान करता था। पुरोहित चाणक्य के निर्देशों का पालन करना इसका प्रमाण है।

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में ऐसा प्रतिबन्ध नहीं था कि बौद्ध धर्म स्वीकार किया जाये इतना अवश्य प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म के अनुयायी सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। ब्राह्मण श्रमणों का भी आदर किया जाता था। धार्मिक स्थानों पर दान दिया जाता था तथा प्रशासन की और से वैधानिक कर्मचारी आदि मन्दिर तथा पूजा स्थलों पर नियुक्त है। मौर्य सम्राट अशोक द्वारा बौद्ध धर्म को राज्याश्रय प्रदान किये जाने के कारण बौद्ध धर्म प्रधान धर्म बन गया था। बौद्ध धर्म के प्रचार प्रसार हेतु अशोक ने व्यापक व्यवस्था की तथा बौद्ध मठों को अपार धन सम्पति दान में दी। अहिंसा के प्रचार तथा धर्म महामात्यों की नियुक्ति के कारण ब्राह्मण धर्म के याज्ञिक कर्म काण्ड को आघात तो पहुंचा किंतु अशोक ने इसका कभी अनादर नहीं

किया। अशोक द्वारा बहुत से ब्राह्मणों तथा श्रमणों को धन के रूप में सोना दिये जाने के अनेक उदाहरण प्राप्त होते है[29]। इस प्रकार ऐसा भेद भाव नहीं रखा गया कि बौद्ध धर्म के प्रचारक को ही सुविधाये प्राप्त थी बल्कि ब्राह्मण श्रमणों को भी समस्त राजकीय सुविधायें प्राप्त थी। अशोक के शासन काल में ब्राह्मणों का पर्याप्त आदर था तथा वे भी साधु सन्यासी के रूप में पूज्य थे। अशोक ने भी स्वयं उनके लिए समान आदर प्रदर्शित किया तथा जनता से भी ऐसा ही करने का अनुरोध किया[30]।

पुरोहित के सम्बन्ध में ज्ञात होता है कि मौर्य साम्राज्य में पुरोहित का स्थान इतना ऊचा था कि मन्त्री तथा पुरोहित दोनों का आदर होता था। पुरोहित मंत्री हो सकता था अर्थात् वह राजा का मुख्य सलाहकार बन सकता था।

धर्म महामात्रों का पद अशोक ने स्वयं सृजित किया[31]। प्रतीत होता है कि यह कार्य अशोक ने अपनी नीति के अनुसार शासन को प्रजा के लिए सुख कारक तथा सुविधा जनक बनाने के लिए किया था उसके पहले भी शासन में धार्मिक विभाग था। ऋत्विक मुख्यतया कुछ अवसरों पर राजा और राज्य के लिए कर्म काण्डी ढंग से धार्मिक कृत्य सम्पन्न करते थे। सम्भवतः अशोक ने प्रजा में नैतिक जीवन का प्रचार करने तथा नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए धर्म महामात्रो की नियुक्ति की[32]। इनको सभी सम्प्रदायों के हितों का कार्य मुख्यतः ऋत्विक को सौंप दिया गया था। इनके द्वारा ही प्रजा में धर्म संवर्द्धन तथा अत्याचार सम्बन्धी निराकरण संभव था। इस प्रकार अशोक ने एक ऐसे धर्म की स्थापना की जो नैतिक सिद्धांतों का सार था। परन्तु उन नैतिक सिद्धांतों में भी बौद्ध धर्म का प्रभाव स्पष्ट है। जहां तक दान देने का प्रश्न उठता है। वह दान के ग्राह्य केवल ब्राह्मण ही है अर्थात निःसन्देह प्रतिग्रह ब्राह्मणों का विशेषाधिकार था[33]। अशोक द्वारा दान के ऐसे प्रमाण मिले हैं जिनके द्वारा ज्ञात होता है कि उन्होंने न केवल श्रमणों को दान दिये, अपितु ब्राह्मणों को भी पर्याप्त दान दिया है। आर० सी० मजूमदार के अनुसार– "उसने ब्राह्मणों और अन्य धर्मावलम्बियों को मुक्तहस्त दान दिया। अन्तर केवल इतना है कि अशोक द्वारा विशेष रूप से ब्राह्मणों को दान देने का वर्णन नहीं आता बल्कि साथ में श्रमण आजीवकों आदि को दान दिया जाता था।[34] ऐसा प्रतीत होता है कि सामान्यतः भिक्षु और आध्यात्मिक कल्याण के उपदेश देने वाले सभी दान के पात्र थे। अशोक की उदार वादी नीति देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वह बौद्ध धर्म को जोर जबरदस्ती से जनता पर थोपना नहीं चाहता था। ब्राह्मणों, जैनों और अन्य सम्प्रदाय के अनुयायियों की शक्ति से वह अपरिचित नहीं था। सम्राट अशोक द्वारा जीव हिंसा पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। यहाँ तक उसकी रसोई में जो मांस बनता था वह भी बन्द कर दिया था। प्राचीन काल में जो बली प्रथा थी इसका भी विरोध किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय ब्राह्मण उसमें हस्तक्षेप उचित न मानते होंगे। जिसका परिणाम मौर्योत्तर काल में देखने में आता है कि पुष्य–मित्र शुंग ने अन्तिम मौर्य शासक वृहद्रथ को मौत के घाट उतार दिया तथा शुंग वंश की स्थापना की[35]।

इसमें संदेह नहीं कि पुष्य मित्र शुंग ब्राह्मण था। हमकों अशोक शासन में ब्राह्मणों के प्रति अनादर कहीं दिखायी नहीं देता। सम्राट अशोक ने धर्म महात्यों की नियुक्तियां की थी उनका कार्य धर्म की प्रगति देखने के साथ–साथ वह यह भी देखते थे कि ब्राह्मण धर्म भी प्रगति कर रहे है अथवा नहीं। इससे प्रतीत होता है कि अशोक नीति किसी भी धर्म या जाति के विरूद्ध न थी। पुष्य मित्र शुंग शासन की स्थापना अशोक मौर्य से बहुत बाद की रही है। तत्कालीन समय में परिस्थितियाँ ऐसी उत्पन्न हुई जिसके कारण सेनापति पुष्य मित्र शुंग ने राजा से विद्रोह किया। प्राचीन काल में राजद्रोह को बहुत ही घातक स्वीकार किया गया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में लिखा है यदि ब्राह्मण, राजद्रोह, राजा के अन्तः पुर में प्रवेश, राजा के शत्रुओं को उभारने का कार्य करता है तो उसे पानी में डूबों कर मार देना चाहिए[36]।

पुष्य मित्र ब्राह्मण का सेनापति होना इस बात का प्रतीत है कि मौर्य युग के अन्त तक ब्राह्मणों का अस्तित्व मूल रूप में बना रहा भले ही बौद्ध धर्म या जैन धर्म ने उसे झकझोरा हो। परन्तु कौटिल्य ब्राह्मण सैनिको को बहुत अधिक महत्व प्रदान नहीं करता था क्योंकि वे सहज में ही आये शत्रु को क्षमा कर देते थे[37]। इससे ब्राह्मणों का युद्ध सम्बन्धी कार्य समाप्त नहीं हो जाता है। पुरोहित का मार्ग दर्शन युद्ध के लिए मुख्य था।

इस प्रकार मौर्य शासन काल में कार्यों के विभाजन की दृष्टि से भी पुरोहित की स्थिति सुदृढ थी तथा उसके अधिकारों को चुनौती नहीं दी गयी प्रतीत होती है। मौर्य काल में जैन व बौद्ध धर्म का प्रचार भी पर्याप्त रहा लेकिन ब्राह्मणों की अधिक उपेक्षा समाज तथा शासन में नहीं थी।

वैदिक धर्म का पुनरूद्धार तथा उसका नवीन रूप (शुंग काल)

छठी श० ई० पू० में भारत वर्ष में प्रबल धार्मिक क्रान्ति हुई थी। उस काल में जैन तथा बौद्ध दो ब्राह्मण विरोधी मतों का उदय हुआ था। इन मतों का सामान्यजनो ने स्वागत किया था, किंतु इस क्रंान्ति से समाज दो भागों में विभक्त हुआ प्रथम वैदिक मानी तथा दूसरी प्राचीन ब्राह्मण परम्परा विरोधी। मौर्य साम्राज्य ने बौद्ध धर्म को राज्याश्रय प्रदान किया। अशोक द्वारा बौद्ध धर्म का देश देशान्तरों में पर्याप्त प्रचार किया। अंत तक उसके उत्तराधिकारियों ने बौद्ध धर्म को संरक्षण प्रदान किया। मौर्य साम्राज्य द्वारा वैदिक धर्म नीति का त्याग करने पर भी वैदिक धर्म परम्परा के अनुयायियों की कमी न थी। मौर्य राजाओं की नीति से वैदिक धर्म के अनुयायियों में असन्तोष था, क्योंकि उनकी नीति के कारण वैदिक कर्म काण्डों, यज्ञ हवन आदि के सम्पादन में बाधा उत्पन्न हुई थी। जिन यज्ञों में हिंसा की जाती थी, वे निषिद्व कर दिये गये थे।

मौर्यों की इस धर्मवादी नीति के कारण सैन्य शक्ति कमजोर होने लगी थी। क्योंकि शासन की शक्ति बौद्ध धर्म के प्रचार प्रसार में अधिक व्यय हो रही थी जिससे

वैदिक परम्परा के अनुयायियों में असन्तोष व्याप्त था। ऐसे समय में मौर्य वंशों के विरोध में धार्मिक तथा राजनैतिक प्रतिक्रिया हुई। क्योंकि साम्राज्य की सुरक्षा भी अब सुरक्षित नही रह गयी थी तथा विदेशी आक्रमणों से मौर्य सम्राट रक्षा करने में दुर्बल हो गये थे। ऐसे समय पर पुष्य मित्र शुंग ने जो अन्तिम मौर्य शासक का सेना पति तथा पुरोहित था मौर्य सम्राट वृहद्रथ की हत्या कर दी तथा शुंग वंश की स्थापना की।

पुष्य मित्र शुंग वर्ण से ब्राह्मण था। "हरिवंश पुराण" में पुष्य मित्र को कश्यप गोत्र का ब्राह्मण बताया गया है। इसने अश्वमेध यज्ञ की परिपाटी को पुनरूजीवित करने वाले किसी कश्यप गोत्री ब्राह्मण सेनापति का वर्णन है[38]। मालविकाग्निमित्र नाटक में पुष्य मित्र शुंग के ब्राह्मण होने का उल्लेख है राजा अग्निमित्र को वैम्बिक कुलोत्पन होने के कारण उसे वैम्बिक कहा गया है[39]। प्राचीन परम्परा के अनुसार शुंग वंश ब्राह्मण वर्ण से संबन्धित था। वैदिक साहित्य में इस प्रकार के अनेक उल्लेख मिलते हैं। वृहदारण्यक उपनिषद (6/1/34) में शैजी पुत्र नामक आचार्य का उल्लेख मिलता है। आश्वलायन श्रोत (12/13/5) सूत्र तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी (14/1/17) के अनुसार शुंग भारद्वाज गोत्र के ब्राह्मण थे। अतः इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि पुष्य मित्र ब्राह्मण था। बौद्ध तथा जैन धर्म द्वारा वैदिक धर्म पर जो कुठाराघात किया गया था उसका अंत करके उसने अपने शासन काल में वैदिक धर्म की मान्यताओं तथा परम्पराओं को पुनः स्थापित किया। इस प्रकाश शुंग काल में वैदिक धर्म का पुर्नद्वार हुआ।

कतिपय पुरातात्विक साक्ष्यों से भी उपरोक्त तथ्य की पुष्टि होती हैं इस प्रकार के साक्ष्य वैदिक यज्ञों की स्मृति में स्थापित किये गये अनेक यूपों के स्तंभलेख हैं। प्रथम अभिलेख वशिष्क के शासन काल चौबीसवें वर्ष अंकित मथुरा के निकट इशापुर ग्राम से उपलब्ध हुआ है। इसमें उल्लेख है कि भारद्वाज गोत्र के एक ब्राह्मण रूद्रिल के पुत्र द्रोणिल ने 92 रात्रि तक चलने वाला एक यज्ञ संपन्न किया था[40]। एक अन्य यूप स्तंभ लेख में सप्तसोम यज्ञ से संबंधित सात यूपों के निर्माण कराये जाने का उल्लेख है[41]। भूतपूर्व उदयपुर राज्य के भंदसा नामक स्थान से प्राप्त अभिलेख में 60 दिन तक चलने वाले यज्ञ के सम्पन्न किये जाने का उल्लेख है[42]। इसी प्रकार भूतपूर्व कोटा राज्य के बड़वा नामक स्थान से प्राप्त अभिलेख में त्रिरात्र यज्ञ संपन्न किये जाने का उल्लेख है[43]। इन अभिलेखों में अंकित विवरणों से यह प्रमाणित हो जाता है कि शुंग–सात वाहन काल में वैदिक यज्ञों को सम्पन्न कराने की परम्परा पुनः प्रारम्भ हो गयी थी तथा ब्राह्मण पुरोहित द्वारा इन्हें सम्पन्न कराया जाता था।

यद्यपि धर्मशास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण का कर्म अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना, या कराना, दान लेना और देना था। शुंग युग में यह कथन पुस्तकों तक ही सीमित रह गया। अनेक ब्राह्मण इन कार्यों को छोड़ कर अन्य कार्यों में लग गये थे, किन्तु ब्राह्मण वर्ग में जन्म लेने के कारण ब्राह्मण ही कह लाये। उदाहरणार्थ पुष्य मित्र शुंग

ब्राह्मण होते हुए भी मौर्य सम्राट वृहद्रथ का सेनापति था। उसने ब्राह्मण वृत्तियों को छोड़कर क्षत्रिय धर्म अपनाया लेकिन फिर भी ब्राह्मण ही कह लाया। इसका सूत्रपात मौर्य युग में ही हो चुका था। कौटिल्य ने ब्राह्मण सेना का उल्लेख किया है। इस तथ्य से विदित होता है कि इस युग में वर्ण व्यवस्था जन्म के आधार पर आरूढ़ हो चुकी थी। मृच्छकटिक का नायक चारूदत्त वर्ण से ब्राह्मण था। परन्तु वृत्ति में वैश्य था नाटक में उसका सार्थवाह होने के कारण का उल्लेख है[44]। शुंग काल में जन्म की वृत्तियां परिवर्तित होने लगी थी, और अनेक ब्राह्मणों ने अपनी ब्राह्मण वृत्ति बदल कर क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण की वृत्तिधारण की थी। सम्भवतः इसका मूल कारण जैन तथा बौद्ध धर्म का प्रसार एंव प्रभाव ही रहा होगा। जिसके परिणामस्वरूप पौरोहित्य वृत्ति क्षीण होने पर ब्राह्मणों ने अन्य वृत्तियां धारण की होगी।

डा० राजबली पाण्डेय का मत है– शुंग वंशीय ब्राह्मण पहले मौर्य सम्राटो के आचार्य और पुरोहित थे। अशोक के समय में मौर्य राजवंश पूरा बौद्ध हो गया तो इसका शुंगों की पुरोहिती व्यवस्था पर भी प्रभाव पड़ा[45]।

ब्राह्मणों क़े वृत्ति परिवर्तन की घटनायें प्राचीन काल से चली आ रही हैं परशुराम द्रोणाचार्य, अश्वस्थामा आदि ने क्षत्रिय धर्म को अपनाया। यदि राष्ट्र तथा धर्म संकट मे हो तो ब्राह्मण भी अस्त्र धारण कर सकता है, ऐसा धर्म शास्त्र विहित है। मौर्य साम्राज्य की पतनोन्मुख अवस्था के समय यवनों के आक्रमण प्रारम्भ हो चुके थे। उस समय मौर्य शासक वृहद्रथ था जो अत्यन्त ही निर्बल शासक था। वृहद्रथ के राज्य काल तक मौर्य शक्ति काफी क्षीण हो चुकी थी[46]।

मौर्य शक्ति क्षीण हो जाने के कारण 2 श०ई० पू० लगभग मौर्य साम्राज्य छिन्न भिन्न होने लगा था। कलिंग, आन्ध्र और महाराष्ट्र मौर्य साम्राज्य से बाहर हो गये तथा यहां के शासकों ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी। मौर्य वंश का अन्तिम राजा वृहद्रथ निर्वल तथा विलासी था, मौर्य साम्राज्य में वह शक्ति न रह गयी थी, जो चन्द्र गुप्त मौर्य तथा बिन्दुसार के काल में थी। पुष्य मित्र शुंग ने मौर्य सम्राट वृहद्रध का बध करके शासन अपने हाथ में ले लिया। प्राचीन काल में सेनापति के होते हुए भी राजा ही सेना का सर्वोच्च अधिकारी था। परन्तु मौर्य वंश के अन्तिम राजा वृहद्रथ का सम्बन्ध सीधा सेना से न था वह अत्यन्त विलासी तथा कमजोर था। इनमें एक पक्ष ब्राह्मण पुरोहित का रहा है तथा द्वितीय पक्ष क्षत्रियों का था। कभी क्षत्रिय तथा कभी ब्राह्मण शासन करता रहा, लेकिन ब्राह्मण पुरोहितों का क्षत्रियों के शासन में पूर्ण हस्तक्षेप पाया गया, इसी कारण समय–समय पर क्षत्रिय वर्ण की कमजोरी का लाभ उठा कर ब्राह्मण ने सत्ता धारण की। आक्रमण तथा प्रत्याक्रमण का यह क्रम कभी आवृत कभी अनावृत रूप से चलता रहा है। परन्तु जैन तथा बौद्ध धर्म की ब्राह्मण विरोधी नीति ने मौर्य साम्राज्य को दुर्बल एवं जर्जर बना दिया। जिसके परिणाम स्वरूप बाह्य शक्तियों ने उस साम्राज्य पर आक्रमण करने प्रारम्भ कर दिये। अतः भारत की रक्षा करने के लिए सबल सैन्य शक्ति की आवश्यकता थी, यह भी आवश्यक था कि अब प्राचीन वैदिक धर्म का पुररूत्थान हो। इस समय निर्बल मौर्य

साम्राज्य का अन्त निश्चित था क्योंकि वे बौद्ध धर्म की अहिंसावादी नीति का पालन करते थे। प्रजा भी असन्तुष्ट थी। अतः परिस्थितियों का लाभ उठाकर पुष्य मित्र शुंग ने मौर्य सम्राट का वध करके विदेशियों से भारत की रक्षा की तथा "अश्वमेध" यज्ञ सम्पन्न किया। जिससे विशाल साम्राज्य की स्थापना हुई।

इस प्रकार विप्लव आकस्मिक तथा अप्रत्याशित नहीं कहा जा सकता। यह प्राचीन राज्याश्रय परम्परा का ही परिणाम था। अशोक द्वारा बौद्ध धर्म को राज्याश्रय प्रदान करना तथा बौद्ध धर्म की नीति के कारण वैदिक धर्म पर अनेक आधात हुएं। अशोक की अहिंसा वादी नीति के कारण साम्राज्य में महान यज्ञों का प्रायः बहिष्कार हो चुका था। इससे पुरोहित वर्ग बहुत चिन्तित उद्विग्न तथा प्रतिक्रियावादी हो गया था। अतः ऐसी परिस्थितियों में पुष्यमित्र का उदय जनता की सुरक्षा तथा वैदिक धर्म के कर्म काण्डों की सुरक्षा की दृष्टि से उपयुक्त था।

इस युग में मौर्य साम्राज्य तथा ब्राह्मण व्यवस्था दोनों की मूर्छित पड़े हुए थे। ऐसे वातावरण में अपेक्षा कृत परिवर्तन संभव था। पुष्य मित्र शुंग ने सामाजिक आशायें, राज शक्ति का विरोध, तथा स्नेह आदि का समन्वय किया। यह घटना ब्राह्मणों का षडयंत्र न होकर जन प्रिय तथा सार्थक सिद्व हुई क्योंकि सेना तथा जनता दोनों ने ही पुष्य मित्र शुंग को स्वीकार किया। बौद्ध साहित्य में इस प्रकार के विवरण अपलब्ध होते हैं कि पुष्य मित्र शुंग ने बौद्धों पर प्रबल अत्याचार किया। दिव्यावदान के अनुसार पुष्यमित्र ने अपने ब्राह्मण पुरोहित के परामर्श पर बौद्ध मत को समूल नष्ट करने का निश्चय किया। बौद्ध मठ कुक्कुटाराम सहित अनेक मठों को विध्वंस करने के उपरान्त उसमें यह घोषणा की थी, जो एक बौद्ध भिक्षु का शिर लाकर देगा उसे 100 दीनार उपहार में दी जायेगी। इस विषय में प्रमाण तारानाथ का है, जिसने लिखा है कि पुष्य मित्र ने बहुत बडी मात्रा में बौद्ध अनुयायियों का वध कराया तथा उनके स्तूपों मठों को नष्ट किया। वस्तुतः प्रतीत होता है कि पुष्य मित्र ब्राह्मण धर्म का पक्षपाती था अतः इस दृष्टि से उसके ऊपर ये मिथ्या दोषारोपण किया गया है। इसमें अतिश्योति प्रतीत होती है।

प्राचीन राजाओं के राज्याभिषेक के अवसर पर बड़े-बड़े यज्ञों का अयोजन होता था जिसमें कई पुरोहित भाग लेते थे। पुष्यमित्र शुंग ने यद्यपि ऐसे यज्ञ का आयोजन नहीं किया फिर भी साम्राज्य को सुस्थिर करने के लिए तथा चक्रवर्ती सम्राट बनने के लिए उसने "अश्वमेध" यज्ञ किया। मौर्य शासक की हत्या के बाद उसे काफी समय तक युद्धरत रहना पड़ा। राजबली पाण्डेय का कथन है-उत्तर भारत और दक्षिण-पथ के कुछ भाग पर अपना साम्राज्य स्थापित करने और यवनों को मध्य देश से भगाने के बाद नियमतः अपना प्रभुत्व प्रदर्शित करने के लिए पुष्यमित्र ने यज्ञ किया[17]। वैदिक काल में यज्ञ चक्रवर्ती सम्राट बनने की आकांक्षा रखने वाला राजा सम्पन्न करता था जो कालान्तर में अत्याधिक व्यवसाध्य तथा वर्षो तक चलने वाला यज्ञ हो गया था। इसमें लगभग 20 पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती

थी। जैन बौद्ध धर्म के अभ्युदय के काल में हिंसात्मक यज्ञों में व्यवधान उपस्थित हो गया था। मौर्यकाल में अशोक ने भी पशु बलि निषेध करके इस प्रकार के यज्ञों पर प्रतिबन्ध लगा दिया था किंतु शुंग काल में पुष्यमित्र शुंग ने यह यज्ञ सम्पन्न करके यह प्रथा पुनर्जीवित की।

"अश्वमेघ यज्ञ" सम्पन्न किया जाना ही बौद्ध धर्म के विरूद्ध ठोस कार्य किया गया–प्रतीत होता है। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है। मौर्य युग में बौद्ध धर्म को राज धर्म का स्थान प्राप्त था। इसलिए ब्राह्मण धर्म के अनुयायी अपने को हीन समझते थे। बौद्ध धर्म का संचालन क्योंकि पुरोहितों द्वारा नहीं किया जाता था अतः उससे यह वर्ग असन्तुष्ट भी था। इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप ब्राह्मणवाद का पुनर्जन्म हुआ तथा ब्राह्मण वैदिक धर्म का प्रचार एवं प्रसार पुनः शुरू हो गया। यह इतिहास की एक ऐसी महान घटना थी कि जिसमें शुंग वंश ने एक महान क्रान्ति की जिसके द्वारा यज्ञ, हवन आदि क्रियाओं को प्रोत्साहन दिया गया। इतना ही नहीं, आश्रम व्यवस्था को भी पुनर्जीवित किया गया। बौद्ध धर्म में हजारों की संख्या में नवयुवकों तथा नवयुवतियों के भिक्षु तथा भिक्षुणियां बन जाने के कारण प्राचीन वर्ण व्यवस्था भंग हो गयी थी। अतः प्राचीन वर्ण व्यवस्था को कायम करना उस समय बहुत आवश्यक था।

वैदिक काल के जिन यज्ञों की परम्परा को बौद्धों ने समाप्त कर दिया था, इनका पुनरूद्धार पुष्यमित्र की नीति का एक अंग था। इस काल में हिन्दू धर्म को प्रबल प्रोत्साहन दिया गया। हिन्दू धर्म को प्रोत्साहन देने के सम्बन्ध में अनेक यज्ञों तथा वैदिक मान्यताओं को सम्पन्न किया जाने लगा। इस प्रतिक्रिया से बौद्धों में असनतोष होना स्वाभाविक था। इसी असन्तोष के कारण बौद्धों ने प्रतिक्रिया व्यक्त की तथा पुष्यमित्र को बौद्ध धर्म का कट्टर विरोधी बताया।

वस्तुतः "ब्राह्मण धर्म" अथवा हिन्दू धर्म का उद्गम स्थल वैदिक धर्म ही है। हिन्दू धर्म की सारी मान्यताओं में ब्राह्मणों का आधिपत्य एवं निर्देशन होने के कारण वैदिक धर्म को ब्राह्मण धर्म नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। इस धर्म के द्वारा कर्म काण्डीय व्यवस्था का प्रचलन करना ब्राह्मणों का मुख्य कर्म था। वर्णव्यवस्था तथा आश्रम व्यवस्था ब्राह्मण धर्म का मुख्य आधार थी। जो व्यवस्था वर्ण तथा आश्रम धर्म के नाम से समाज में प्रतिष्ठित थी।

इन समस्त व्यवस्थाओं में ब्राह्मण पुरोहित की मान्यता तथा प्रधानता थी। उनकी सहायता के बिना कोई भी धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न होना असंभव था, समाज के विभिन्न कार्य पूजन, यज्ञादि तथा अन्य कर्मकाण्ड पुरोहितों द्वारा ही सम्पन्न होते थे। ब्राह्मण धर्म में सन्यास तथा तत्पश्चात मोक्ष को मुख्य स्थान प्रदान किया गया, वही जीवन श्रेष्ठ था जिसमें सत्य का साक्षात् अनुभव किया जाये। सत् तथा असत् की कल्पना देव तथा असुर के रूप में की गयी। सत्य का आचरण करने वाले देव होंगे जिनको स्वर्ग प्राप्त होगा। असत्य का आचरण करने वाले असुर होंगे तथा उन्हें भूतल प्राप्त होगा। ज्ञान तथा सत्य की प्राप्ति हेतु तपस्वी होना आवश्यक माना गया।

इसके अनेक उपाय थे–तपस्या करना, ब्रह्चर्य का पालन करना, भ्रमण करना आदि। सम्पूर्ण समाजिक व्यवस्था को उन्होंने वर्णाश्रम धर्म के कठोर नियमों से आबद्ध कर रखा था[48]। स्पष्टतः यह प्रक्रिया बौद्ध तथा जैन धर्म के आदर्शों के विपरीत एक कठोर प्रतिक्रिया ही थी।

राज्याश्रय प्राप्त बौद्ध धर्म की शुंग काल में विपरीत स्थिति हो गई। बौद्ध धर्म की उपेक्षा तथा हिन्दू धर्म को राज्याश्रयय प्राप्त हुआ। हिन्दू धर्म के उत्थान के साथ–साथ मूर्ति पूजा का भी प्रचलन शुरू हुआ। बौद्ध धर्म के अनेक स्मरण सांची तथा भारहुत के स्तूप न केवल इस समय में बनते रहे, किंतु उन्हें राज्य की ओर से संरक्षण भी था। इन स्तूपों की सुन्दर मूर्तियों वाली वैदिकायें यहाँ खुदे अभिलेखों के अनुसार शुंग राजाओं के समय में ही बनी थी[49]। इस समय में बौद्ध धर्म में एक नवीन परम्परा का जन्म हो चुका था। यह बुद्ध को ईश्वर मानकर उनकी पूजा पर बल देने लगा था तथा विशेष बात यह थी कि बुद्ध के अवशेषों पर बने स्तूपो की परिक्रमा और पूजा को महान पुण्य कार्य समझा जाता था। इस प्रकार बौद्ध धर्म भी ब्राह्मण धर्म से समता करता प्रतीत होता है। बौद्ध धर्म में जिन भिक्षुओं का वर्णन आया है वह ब्राह्मण धर्म के "वानप्रस्थ" "तथा" "सन्यास" का ही रूप है। ऐसे ही धर्म, कर्म, सत्य, तप तथा ब्रह्मचर्य आदि पर दोनों बल देते थे।

उपरोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस युग में धार्मिक विकास की दृष्टि से कई महत्व पूर्ण परिवर्तन हुए। जैन तथा बौद्ध धर्म द्वारा वैदिक धर्म के विरूद्ध जो क्रांन्तिकारी परिवर्तन हुए थे उनके निराकरण हेतु ब्राह्मण धर्म द्वारा अपने सिद्धान्तों तथा मंतव्यों को श्रृखंला बद्ध तथा तर्क संगत बनाने का प्रयास किया गया। सातवाहन तथा शुंग राज्यों में जिस हिन्दू धर्म का पुनः विकास हुआ उसे प्रायः ब्राह्मण धर्म कहा जाता है। क्योंकि इसमें ब्राह्मणों की स्थिति सर्वोच्च मानी गई है। डा० आर० भण्डारकर का कथन उल्लेखनीय है कि पौराणिक हिन्दू धर्म के ब्राह्मण वादी रूप का पुष्यमित्र को श्रेय देना चाहिए। इसके पुनरूत्थान का कार्य न केवल शुंग राजाओं ने अपितु राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञ करने वाले गौतमी पुत्र शतकर्णी आदि सातवाहन राजाओं ने भी किया[50]।

शुंग सातवाहन काल में पुरोहित की स्थिति तथा महत्व

शुंग काल में "ब्राह्मण धर्म" (हिन्दू धर्म) का पुनरूद्वार होने पर प्राचीन वैदिक यज्ञीय प्रणाली भी पुनः विकसित हुई। इसके अर्न्तगत विभिन्न प्रकार के यज्ञ तथा कर्म काण्डों की सम्पन्नता का होना अनिवार्य था। यज्ञों को कराने के लिए विभिन्न पुरोहितों की आवश्यकता होती है। पुष्य–मित्र शुंग का "पंतजलि द्वारा वर्णन किया गया। उस काल में चारों वर्णों से ऊंचे मूर्धन्य और प्रतिष्ठा के पात्र समझे जाते थे[51]। ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के अतिरिक्त उसमें विद्या, कर्म आदि गुणों का सामाविष्ट होना भी आवश्यक था। पंतजलि के मतानुसार उन दिनों जन्म, विद्या और कर्म द्वारा वर्ण का निर्धारण होता था[52]।

सामान्यतः शास्त्रों का अध्ययन, सदाचरण, त्याग, तपस्या आदि गुणों से युक्त ब्राह्मण को ही पुरोहित अथवा ब्राह्मण कहते थे। इस युग में ब्राह्मण को अधिक महत्व प्रदान किया गया भले ही वह उपयुक्त गुणों को न रखता हो। ब्राह्मण कुल में जन्म लेने वाला प्रत्येक व्यक्ति ब्राह्मण था। उस युग में ब्राह्मण पुरोहित को वेद की रक्षा का दायित्व सौंपा गया था। इसलिए ब्राह्मणों का समाज में बहुत आदर था। लोग बालक ब्राह्मण को भी उठ कर अभिनन्दन करते थे। गलती से ब्राह्मण पुरोहित को मारने वाला पतित हो जाता था। इस युग में दान देने के स्थान पर पुरोहितों में दान लेने की भावना अधिक प्रबल हो गई थी।

सभवतः इस युग में वेद का गम्भीर अध्ययन करने वाले ब्राह्मण पुरोहितों की सख्या कम थी, क्योंकि जन्म जात से ही वे सब अधिकार उसे प्राप्त हो जाते थे, जिनको प्राप्त करने में सारा जीवन लगाना पड़ता था।

इस युग में पुरोहित धार्मिक कार्यों के अतिरिक्त प्रशासनिक कार्यों में भी संलग्न थे। पुष्य मित्र के पुरोहित पंतजलि थे जिन्होंने अश्वमेध को सम्पन्न कराया। बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान के अनुसार पुष्य मित्र ने अपने ब्राह्मण पुरोहित के परामर्श पर ही बौद्ध अनुयायियों पर अत्याचार पूर्ण कार्य किये। वासुदेव नामक ब्राह्मण अन्तिम शुंग राजा था अमात्य था। संभव है उसने पौरोहित्य भी किया हो। उपरोक्त तथ्य यह भी सकेंत देते है कि ब्राह्मण पुरोहित राष्ट् हित में क्षत्रियों को पदच्युत कर शासन संभाल सकता था। ऐसा ही शुंगों द्वारा किया गया तथा ब्राह्मणों द्वारा, जिन अश्वमेध जैसे हिंसात्मक यज्ञों पर प्रतिबन्ध था। प्रारम्भ कराये गये तथा संस्कृत को राष्ट्र भाषा के रूप में प्रति स्थापित किया गया[53]। शुंग सात वाहन युग में पाली के स्थान पर संस्कृत को महत्व दिया जाने लगा तथा उच्च कोटि का साहित्य लिखा गया। स्मृति ग्रन्थ इसके प्रमाण हैं।

स्मृति साहित्य में प्रतिपादित पौरोहित्य सम्बन्धी विचार

भारतीय धर्म एवं संस्कृति का मूल वेद है। भारतीय परम्पराओं के अनुसार वैदिक ज्ञान मानव कृत न होकर ईश्वरीय है यह ज्ञान ईश्वर से अवतरित हुआ और ऋषियों ने इसके अर्थ को समझ कर इस धरा पर प्रसारित किया। विश्व की समस्त विद्याओं के प्रसार के लिए ऋषियों ने वैदिक मन्त्रों का इस प्रकार संगठन किया जिससे कि वह ज्ञान सभी को स्मरण हो सके। वैदिक संहिताओं के अन्तर उसके व्याख्यास्वरूप ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद विकसित हुए। तदनन्तर चार उपवेदो तथा छः (धनुर्वेद, आयुर्वेद, सान्ध्यर्वेद और अथर्ववेद) (वेदांगो) (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द और ज्योतिष) का विकास हुआ। कल्पसूत्र के चार विभाग थे– श्रोत्र सूत्र, धर्म सूत्र, गृह्य् सूत्र और शुल्ब सूत्र। उत्तर वर्ती काल में सूत्र ग्रन्थों के आधार पर स्मृतियों की रचना हुई। मनु, याज्ञवल्क्य और नारद स्मृतियाँ धर्म शास्त्र भी कहीं जाती हैं। इन ग्रन्थों में रचित वृहस्पति स्मृति ग्रन्थ महत्वपूर्ण है।

धर्म का प्रमुख स्रोत होने के अतिरिक्त स्मृतियों का सर्वाधिक विशेषता इस बात में विहित है कि ये कर्त्तव्यों, अधिकारों, सामाजिक नियमों तथा शासन की विधियों को व्यवस्थित रखने के लिए इन सभी विषयों का भी विवेचन करती हैं।

मौर्य साम्राज्य के पतनोन्मुख होते ही बौद्ध धर्म के विरूद्व प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गयी। जैसे कि उल्लेख किया जा चुका है, बौद्ध एवं जैन, ब्राह्मणों की सर्वोच्चता को स्वीकार नहीं करते थे तथा जन्म की अपेक्षा गुणकर्म को अधिक महत्व देते थे। मौर्य साम्राज्य के पतन के कारणों का यदि विश्लेषण किया जाय तो एक प्रबल कारण ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया ही थी। मौर्य शासकों की अहिंसात्मक एवं यज्ञ विरोधी नीति के कारण ब्राह्मण लोग कुपित थे। अशोक द्वारा पशुबलि का निषेध तथा महापात्रों की नियुक्ति पुरोहित वर्ग के अधिकारों पर प्रबल आघात थी। परिणाम स्वरूप जैसे कि शुंग काल के साहित्य के अध्ययन से विद्दित होता है, वर्ण भेद को पुनः भारत के सामाजिक जीवन में महत्व प्राप्त हुआ। शुंग काल में संस्कृत साहित्य की वृद्धि हुई स्मृति ग्रन्थों का जो वर्तमान स्वरूप है वह इसी युग की रचनायें हैं। मनु, याज्ञवल्क्य, नारद और बृहस्पति–स्मृतियों नेअपने वर्तमान रूप को इसी काल में प्राप्त किया। इन ग्रन्थों में ब्राह्मणों की सर्वोच्चता को प्रबल रूप में प्रतिपादित किया गया ताकि वैदिक धर्म का पुनरूत्थान हो सके। अतः स्मृति ग्रन्थों में प्रतिपादित पौरोहित्य सम्बन्धी विचारों का विवेचय प्रसंग में यहां उल्लेख करना समीचीन प्रतीत होता है। स्मृतियों ने वैदिक सिद्धान्तों और धार्मिक कर्म काण्ड को क्रियात्मक तथा व्यवहारिक रूप प्रदान किया। धर्म शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वानों ने स्मृतियों के कार्य वस्तु को तीन भागों में विभक्त किया। है–यथा आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित अथवा दण्ड।

इन तीन भागों का मानव जीवन से धनिष्ठ सम्बन्ध हैं इसके अभाव में मानव तथा समाज का विकास होना असंभव सा प्रतीत होता है। कार्य को केवल सिद्वान्त रूप लेने से तथा उसके व्यावहारिक रूप की अपेक्षा करने से ज्ञान निरर्थक है। सिद्वान्त का व्यावहारिक उपयोग करने पर ही उसकी सार्थकता है। संभवतः इस दृष्टि से प्राचीन काल के ऋषि–मुनियों ने वैदिक ज्ञान को व्यावहारिक रूप देने तथा सुरक्षित रखने हेतु स्मृतियों की रचना की ताकि मानव समाज का उत्थान हो सके। इनमें प्रतिपादित व्यवस्थाओं का पालन करते हुए मानव आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। इन व्यवस्थाओं के नाम से संबोधित किया गया है। वस्तुतः प्राचीन हिन्दू समाज में व्यक्ति का जीवन जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक संस्कारों द्वारा आवृत था। ऐसी धारणा थी कि संस्कारहीन व्यक्ति का जीवन अपवित्र अपूर्ण और अव्यवस्थित होता है, तथा ऐसी स्थिति में अनेक विध्न बाधाओं से उसका जीवन संकट ग्रस्त रहता है। इन विध्न बाधाओं के निराकरण तथा शरीर एवं आत्मा के शुद्धिकरण हेतु संस्कारों का प्राविधान किया गया। संस्कार शब्द का अर्थ शुद्वता अथवा परिष्कार होता है। मीमांसा दर्शन के अनुसार संस्कार का अभिप्राय विधिवत

शुद्धि से बताया गया है। अग्रेजी भाषा से संस्कार के लिए "सेकरामेंट" शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसका अर्थ है "धार्मिक विधान" प्राचीन भारत में भी संस्कार का आधार धर्म था, तथा यह मान्यता थी, कि इसके माध्यम से व्यक्ति के जीवन को उन्नत परिष्कृत तथा सुसंस्कृत बनाया गया है। इसी धार्मिक धारणा के आधार पर संस्कार में यज्ञ, हवन तथा कर्म काण्डों की बहुलता का प्राबाल्य हो गया। "यज्ञों के माध्यम से देवताओं को प्रसन्न करके उनकी अनुकम्पा प्राप्त करने हेतु इनकी स्तुति प्रर्थना तथा ध्यान आदि का प्राविधान था। प्रत्येक संस्कार की अवधि तथा विधि विधान नियत थी। इस प्रकार विभिन्न संस्कार को सम्पन्न करके व्यक्ति अपने शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, वैयक्तिक तथा धार्मिक जीवन को परिष्कृत बनाता था।

स्मृतियों मे सामान्यतः 16 संस्कारों का विधान प्रतिपादित किया गया है। यद्यपि कुछ स्मृतियों में संस्कारों की अधिक संख्या का वर्णन भी प्राप्त होता है। परन्तु हिन्दू संस्कृति और परम्पराओं में 16 संस्कारों को ही विशेष महत्व दिया गया है। उन्ही संस्कारों द्वारा मनुष्य का सर्वांगीण विकास संभव बताया गया है। जो जीव के गर्भ में आने से लेकर मृत्यु तक चलते हैं।

इन समस्त संस्कारों का सम्पादन पुरोहितों द्वारा ही किया जाता था। समय–समय पर परिवर्तन भी हुए जिससे उनसे संस्कार भी प्रभावित हुए। किंतु उनका सम्पादन एक विशेष वर्ग पुरोहित द्वारा ही करने का विधान रहा, भले ही पौरोहित्य किसी भी "वर्ण " ने किया हो।

पौरोहित्य के महत्व को देखते हुए स्मृतियों में पुरोहित की योग्यता पर भी प्रकाश डाला गया है। यथा पुरोहित को वेद ज्ञाता, श्रुति स्मृति का ज्ञाता तथा तदनुसार आचरण करने वाला होना चाहिए। जो इसके विपरीत आचरण करता है, उसे पुरोहित स्वीकार नहीं किया जा सकता। विद्या तथा योग युक्त ब्राह्मण ही पौरोहित्य कर सकता था तथा दान ग्रहण करने का अधिकारी था। श्रुति तथा स्मृति पुरोहितके दो नेत्र थे जो परमेश्वर कृत थे अतः विद्या विहीन ब्राह्मण पौरोहित्य कर्म नहीं कर सकता था। ऐसी मान्यता थी कि उपरोक्त संस्कारों को विधिवत सम्पन्न करने से स्मृतिकारों ने जिन 16 संस्कारों को मान्यता प्रदान की हैं उनसे मनुष्य का दैनिक जीवन शुद्व सात्विक तथा संस्कार युक्त हो जाता है तथा वह अपवित्रता से दूर रहने का प्रयास करता है। यह भी उल्लेखनीय है कि संस्कार ब्राह्मणों, क्षत्रियों, और वैश्यों के पुरूष वर्ग तक ही सीमित थे। स्त्री का संस्कार वेद मन्त्रों का उच्चारण किये बिना सम्पन्न करने का निर्देश "स्मृति ग्रन्थों" में वर्णित है[54]। स्त्रियों के लिए विवाह करके पति सेवा करने में ही संस्कारों की सम्पन्नता स्वीकार की गयी[55]। सेवा ही नारी का सर्वोत्त्म धर्म था तथा उसी में उसका कल्याण निहित था। स्मृति ग्रन्थों में वांछित संस्कारों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है–

(क) जन्म से पूर्व के संस्कार

1. गर्भाधान
2. पुंसवन
3. सीभन्तोन्नयन

(ख) बाल्यावस्था के संस्कार

4. जात कर्म
5. नामकरण
6. निष्क्रमण
7. अन्नप्राशन
8. चूड़ाकर्म
9. कर्ण वेध

(ग) विधाध्ययन से सम्बन्धित संस्कार

10. विधारंभ संस्कार–
11. उपनयन
12. वेदारंभ संस्कार
13. केशांत संस्कार
14. समावर्तन

(घ) आश्रमों में प्रवेश करने का संस्कार

15. विवाह

(ड) मृत्युपरांत संस्कार

16. अंत्येष्टि

इन संस्कारों को सम्पन्न करने हेतु स्मृति ग्रन्थों में अनेक विधियाँ प्रतिपादित थीं, जिसके आधार पर पुरोहित इनको सम्पन्न कराते थे। गर्भाधान से कर्ण वेध तक के नौ संस्कार माता पिता से सम्बन्धित थे। शिक्षा से सम्बन्धित उपनयन संस्कार आचार्य (ब्राह्मण) द्वारा किया जाता था। विवाह सरस्कार के लिए माता पिता तथा गुरू की आज्ञा अनिवार्य थी। अंत्येष्टि संस्कार पुत्र पुत्रियों तथा परिवारजनों द्वारा सम्पन्न की आज्ञा अनिवार्य थी। अतः अंत्येष्टि संस्कार पुत्र पुत्रियों तथा परिवारजनों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। प्रत्येक संस्कार को सम्पन्न करने हेतु एक निश्चित विधि तथा अवधि निर्धारित थी। उसी के अनुरूप पुरोहित इन संस्कारों को सम्पन्न कराते थे। मनुष्य के जीवन को सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित बनाने की दृष्टि से संस्कारों के संपादन के अतिरिक्त आश्रम व्यवस्था के पालन पर भी स्मृति ग्रन्थों में विशेष बल दिया गया च ग्है।

आश्रम व्यवस्था इस प्रकार जन्म के संस्कारों के निर्माण एवं व्यक्तिगत तथा समाजिक क्रियाओं के नियोजन का फल है। इस व्यवस्था का प्रमुख आधार पुरूषार्थ की अवधारणा में निहित है। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने व्यक्ति के जीवन का प्रमुख लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना निर्धारित किया था। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए त्रिवर्ग की की संरचना की गई जिसके अंतर्गत धर्म अर्थ एंव काम की गणना की गई। धर्म अर्थ एवं काम द्वारा मनुष्य सांसारिक जीवन में प्रवृत रहता है। धर्म के माध्यम से मनुष्य नैतिक सिद्धांतों विवेकशील प्रवृत्तियों तथा न्याय प्रधान क्रियाओं को समझ कर उसकी और उन्मुख होतां है। यह व्यक्ति की विविध रूचियों, इच्छाओं,

आकांक्षाओं, आवश्यकताओं आदि के बीच एक संतुलन बनाये रखता है। और परिणाम स्वरूप मानवीय व्यवहार का उचित नियंत्रण रखता है। मनु के अनुसारआचार ही श्रेष्ठ धर्म है। जो धर्म का सम्मान करता है। धर्म उसकी रक्षा करता है।

'धर्म एवहतो हन्ति धर्मों रक्षित रक्षितः'

जीवन के भौतिक सुखों की पूर्ति अर्थ द्वारा संभव बताई गई है। अर्थ मनुष्य के विभिन्न भौतिक सुखों से संबधित वस्तुओं के संचय और उससे प्राप्त सतुष्टि का प्रतीक है। काम को मन व हृदय का वह सुख स्वीकार किया गया है जो इन्द्रियों से निसृत है। मोक्ष का अभिप्राय आवागमन की मुक्ति से हैं। मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति हेतु तभी अग्रसित हो सकता है जब उसने धर्म अर्थ व काम की साधना करते हुए अपनी सासांरिक इच्छाओं की पूर्ति कर ली हो। इस प्रकार पुरूषार्थ एक ओर तो सांसारिक और पारलौकिक लक्ष्य और कर्तव्य है तो दूसरी और इसमें नैतिक आर्थिक मनोशारीरिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों को संतुलित किया गया[56]।

पुरूषार्थों की सफल साधना की दृष्टि से आश्रम व्यवस्था की नियोजना की गई जिसके आधार पर मानव के जीवन के चार आश्रमों यथा ब्रह्ममचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रम में विभाजित किया गया। इन आश्रमों में व्यक्ति विभिन्न पुरूषार्थों की साधना करता हुआ जीवन के परम लक्ष्य अर्थात मोक्ष की प्राप्ति हेतु अग्रसर होता है मनु ने व्यक्ति की औसत आयु 100 वर्ष की मानकर 25-25 वर्ष विभिन्न आश्रमों के लिए निर्धारित किये[57]। जीवन के 25 वर्ष तक व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रम में धर्म को सम्पन्न करता है। अर्थ एवं काम समाजिक व्यवस्था के दो आवश्यक अंग थे जिसकी साधना व्यक्ति अपने जीवन के द्वितीय चरण में गृहस्थाश्रम में करता है। प्रवृति के पचात निवृति अश्वयंभावी है। जब मनुष्य की सांसारिक एंव भौतिक इच्छायें पूर्ण हो जाती है तब उसमें वैराग्य की भावना आती है। इसी तथ्य के अनुसार व्यक्ति के लिए जीवन के उत्तरार्ध में वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रम की नियोजना की गई जहां वह मोक्ष की प्राप्ति हेतु साधना करता है।

कतिपय विद्वानों का मत है कि आश्रम व्यवस्था का प्रचलन बौद्ध काल के पश्चात हुआ[58]। प्रमुख तर्क है कि उपनिषदों में आश्रमों का वर्णन नहीं मिलता। किंतु यह तर्क उचित नहीं है। यद्यपि वैदिक संहिताओं में आश्रम व्यवस्था का उल्लेख नहीं है किंतु ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ की चर्चा किसी न किसी रूप में मिलती है[59]। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में चारों आश्रमों का वर्णन मिलता है। वृहदारण्यक उपनिषद में याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी से कहते हैं कि वे गृहस्थी से प्रवज्य ग्रहण करने जा रहे हैं अतः स्पष्ट है इस काल से आश्रम व्यवस्था अस्तित्व में आ गई थी तथा स्मृति ग्रन्थों के काल तक यह पूर्ण रूप से व्यवस्थित हो गई थी। विभिन्न आश्रमों मे सम्पादित किये जाने वाले धार्मिक क्रियाओं अनुष्ठानों का संक्षिप्त विवेच्य विषय के प्रसंग में आवश्यक प्रतीत होता है।

(1) **ब्रह्मचर्य आश्रम**–जीवन के प्रथम 25 वर्षों को इस आश्रम में समाविष्ट

किया गया है। इसमें बालक का मुख्य उद्देश्य विद्या का अध्ययन करना है। बह्मचर्य वृत का पालन करता हुआ अपनी ज्ञान–तपस्या के साथ–साथ ब्रह्मचारी अपने शरीर का विकास भी करता है। प्राचीन शिक्षा में वेदों के अध्ययन को प्रमुखता दी जाती थी संभवतः यही कारण था कि शिक्षा के प्रारम्भ में किये जाने वाले संस्कार का वेदारम्भ संस्कार के नाम से सम्बोधित किया गया। मनु का कथन है कि जो वेदों का अध्ययन न करे अन्यत्र श्रम करता है, वह जीवित रहता हुआ ही शूद्रत्व को प्राप्त होता है[60]। स्मृतियों के युग में शिक्षा की व्यवस्था सुव्यवस्थित हो चुकी थी। वर्णो के अनुसार इसका स्वरूप भी निर्धारित किया गया था। ब्राह्मण बालक के लिए वेद विद्या, क्षत्रियों के लिए युद्ध शिक्षा तथा वैश्य के लिए वाणिज्य शिक्षा का प्राविधान था। इसके अतिरिक्त वेदों का अध्ययन तीनों वर्णों के लिए शिक्षा का एक आवश्यक अंग था। शिक्षा के इस विशिष्ट महत्व पर इस काल में अधिक बल दिया गया जिससे हिन्दू समाज वेद और वेदागों का ज्ञाता बना रहे। ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रारम्भ में उपनयन और वेदाध्ययन संस्कार द्वारा तथा समापन समावर्तन संस्कार द्वारा किया जाता था। उपनयन संस्कार का अभिप्राय आचार्य द्वारा बालक को शिष्य के रूप में स्वीकार किया जाना था। इस संस्कार में बालक को यज्ञोपवीत धारण कराया जाता है। वेदारम्भ संस्कार उपनयन संस्कार के एक दिन बाद वेदारम्भ संस्कार किया जाता था। ईश्वर स्तुति, उपासना और यज्ञ के पश्चात् ही आचार्य शिक्षा देना प्रारम्भ करता था। ब्रह्मचारी के शिक्षा पूर्ण करके घर वापस आने के अवसर पर समावर्तन संस्कार को सम्पन्न कराया जाता था। ब्रह्मचर्य आश्रम में विधार्थी से भोगविलास की वस्तुओं से दूर रह कर कठोर जीवन व्यतीत करते हुए ज्ञानार्जन की अपेक्षा की जाती थी। इस संस्कार के बाद उनका यह व्रत पूर्ण हो जाता है। इसके बाद उनका क्षौर कर्म कराया जाता था और उत्तम वस्त्र, आभूषण पहनाये जाते थे मनु का कथन है कि स्नातक को बाल, नखून और दाढ़ी मूंछ कटवाने चाहिए, दमन शील होना चाहिए उत्तम वस्त्र धारण करने चाहिए, पवित्र रहना चाहिए और स्वाध्याय में लगा रहना चाहिए[61]।

विभिन्न वर्णों के उपनयन आदि संस्कारों को सम्पन्न करने की अवधि स्मृति ग्रन्थों में विर्धारित थी। उदाहरणार्थ– गौतम स्मृति के अनुसार ब्राह्मण का यज्ञोपवीत आठ या नौ वर्ष में सम्पन्न करना चाहिए। यदि ब्रह्म तेज की इच्छा करते है। तो पांचवें वर्ष में भी किया जा सकता है वर्ष की गणना गर्भ से करना चाहिए। क्षत्रियों तथा वैश्यों का यज्ञोपवीत संस्कार क्रमशः ग्यारहवें तथा बाहरवें वर्ष में करना चाहिए[62]। मनु स्मृति में ब्राह्मण बालक का यज्ञोपवीत सस्कार गर्भ से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय के बालक का 11वें वर्ष में तथा वैश्य के बालक का गर्भ से 12वें वर्ष में सम्पन्न किये जाने का विवरण उपलब्ध होता है[63]।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि संस्कार सम्बन्धी समय तथा प्रक्रियाओं के विषय में कुछ मतभेद रहा होगा, किंतु उपनयन संस्कार तीनों वर्णों के लिए

आवश्यक था। यदि यह विधाध्ययन से पूर्व नहीं हो तो बाद में किसी उपयुक्त अवसर पर अवश्य होना चाहिए। शास्त्रकारों ने कहा है कि सोलह वर्ष तक ब्राह्मण की, 22 वर्ष तक क्षत्रिय की और 24 वर्ष तक वैश्यों की गायत्री समाप्त नहीं होती[64]। सामान्यतः यह संस्कार उसी समय होता था, जब बालक शिक्षा ग्रहण करने गुरू के समीप जाता था। उस समय यह आवश्यक नहीं था कि इस संस्कार के लिए विशेष पुरोहित की आवश्यकता हो। यहां गुरू ही इस कृत्य को सम्पन्न करते थे। यज्ञोंपवीत के होते ही उन सब नियमों का पालन करना अनिवार्य था, जिन्हें समय –समय पर गुरू द्वारा निर्देशित किया जाता था।

शिक्षा ग्रहण कर लेने पर गुरूकुल से वापिस आते समय एक संस्कार किया जाता था, जिसे समावर्तन "संस्कार" कहा जाता है। प्राचीन शिक्षा काल में विधार्थी पर सामान्यतः शुल्क नहीं लिया जाता था। किंतु शिक्षा की समाप्ति पर गुरू दक्षिणा के रूप में विधार्थी द्वारा गुरू को अपनी सामर्थ्य के अनुसार धन देने का प्रावधान था। मनु० के अनुसार– विधाध्ययन के समय विधार्थी को गुरू के लिए कोई शुल्क देने की आवश्यकता नहीं है। स्नातक होने पर वह शक्ति के अनुसार गुरू को अदिष्ट वस्तु लाकर दे[65]। स्मृतियों में दक्षिणा को लेकर विधादान करने वाले को उपाध्याय के रूप में संबोधित किया गया है। शंख स्मृति में लिखा है– जो शिष्य को यज्ञोपवीत कराकर वेद पढ़ाता है, उसे गुरू कहते हैं, और जो द्रव्य लेकर पढ़ाता है उसे उपाध्याय कहते हैं[66]। यह इस बात का प्रतीक है कि धन लेकर पढाना उत्तम कृत्य नहीं माना जाता था। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि धन लेकर कौन विद्यादान करता था। संभावना इस बात की अधिक है जो शुल्क प्राप्त करके विद्यार्थी को शिक्षा देने वाला वह पुरोहित वर्ग ही था। पुरोहित का परिवार होता था वह अन्य कोई व्यवसाय नहीं करता था। उसकी जीविका पौरोहित्य कर्म के आधार पर अर्जित आय तथा दान पर ही निर्भर थी। अधिक आय प्राप्त करने के लिए वह अपने विधार्थियों से शुल्क लेता रहा होगा।

(2) **गृहस्थ-आश्रम**–गुरू के सानिध्य में रह कर जीवन का प्रथम भाग व्यतीत करने के पश्चात व्यक्ति विवाहोपरान्त गृहस्थ आश्रम में प्रवेश का अधिकारी था[67]। गृहस्थाश्रम का अभिप्राय ऐहिक और पारलौकिक सुख की प्राप्ति के लिए विवाह करके सामर्थानुसार परोपकार करने और नियत काल में यथाविधि ईश्वरोपासना और गृहकृत्य करने और सत्य धर्म में ही अपना तन, मन, धन, लगाने तथा धर्मानुसार संतान की उत्पत्ति करने से था। स्मृति ग्रन्थों को सभी आश्रमों का आधार बताया गया है। क्योंकि अर्थ एवं काम जैसे महत्वपूर्ण पुरूषार्थों की यह साधना स्थली थी। मनु का कथन है कि जिस प्रकार वायु द्वारा प्राणियों की रक्षा होती है। उसी प्रकार गृहस्थ–आश्रम में तीन आश्रमों का पालन पोषण होता है[68]। काम मनुष्य की सांसारिक वासनाओं का नाम है। व्यक्ति विवाहोपरान्त सांसारिक वासनाओं में उलझकर अपने जीवन को चरम लक्ष्य को न भूले इस दृष्टि से शास्त्रकारों ने प्रत्येक

गृहस्थ के लिए धर्मानुकूल काम का सेवन पर बल देने के लिए अतिरिक्त उसके कुछ सामाजिक एवं पारिवारिक उत्तरदायित्व भी निर्धारित किये। ग्रहस्थ के मुख्य रूप से चार कर्तव्य निर्धारित किये गये थे–

(1) पंच महायज्ञ
(2) अध्ययन तथा धनोपार्जन
(3) सन्तानोत्पत्ति
(4) दान

1. **पंच महायज्ञ**– गृहस्थ आश्रम में सामान्य रूप से पांच यज्ञों के अनुष्ठान का विधान किया गया जिनके परिभाषिक रूप से पंच महायज्ञ की संज्ञा दी गयी। वे यज्ञ निम्न हैं–ब्रह्मणयज्ञ, पितृ यज्ञ, देव यज्ञ, भूत यज्ञ, मनुष्य यज्ञ[69]।

मनु के अनुसार ये यज्ञ बहुत सरल थे। इन्हें प्रत्येक गृहस्थी स्वयं सम्पन्न कर सकता था। इन यज्ञों को सम्पन्न करने में पुरोहित की आवश्यकता नहीं होती थी। इनका मुख्य उद्देश्य ईश्वर, प्राचीन ऋषियों, पितरों, जीवों एवं सम्पूर्ण ब्राह्मणों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करना था। ऐसी धारणा थी कि व्यक्ति इस संसार में जन्म लेने के कारण इन सबका ऋणि हो जाता हे। और पंच महायज्ञों का संपादन करके ही उससे उऋण हो सकता है। किन्तु यज्ञों में दान देने का भी विधान होने के कारण ब्राह्मण पुरोहितों ने अपनी उपस्थिति की अनिवार्यता को प्रतिष्ठित किया। क्योंकि यह दान ब्राह्मण पुरोहितों को ही दिया जा सकता था। क्षत्रियों तथा वैश्यों को अपने–अपने व्यवसाय में संलग्न रहने के कारण समय नहीं होता रहा होगा। अतः उनके यज्ञीय कार्य कुल–पुरोहितों द्वारा ही सम्पन्न किये जाने लगे होंगे। अतः स्पष्ट है कि इन यज्ञों के संपादन में पुरोहित की आवश्यकता न होने पर भी परोक्षरूप से उसकी उपस्थिति अनिवार्य रही होगी। वैखानस गृह सूत्र में गृहस्थ चार भागों में विभाजित है यथा–वार्तावृत्ति वाला, शालीन, यायावर तथा घोराचारित्र। इनमें यायावर गृहस्थ के लिए जो कार्य निर्धारित है। उनमें यज्ञों में पौरोहित्य कर्म करना भी एक कर्म था।

(2) **अध्ययन तथा धनोपार्जन**– गृहस्थी के लिए स्वाध्याय की आवश्यकता कर्तव्य के रूप में परिगणित किया गया है। स्वाध्याय ब्रह्म यज्ञ के अन्तर्गत भी आ जाता है। गृहस्थ अपनी जीविका में अध्ययन से कैसे ज्ञान प्राप्त करे, यह भी निर्देश स्मृतिकारों ने दिया तथा जीविका की दृष्टि से समाज को चार भागों में विभक्त किया–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। वैदिक युग में पौरोहित्य वृत्ति ब्राह्मणों के लिए उत्तम मानी गयी थी, लेकिन स्मृति काल में उसकी महत्ता घट गयी थी। पुरोहितों को दान, दक्षिणा का बहुत लोभ होता था, इस वृत्ति को ब्राह्मणों के लिए अच्छा नहीं माना गया। क्षत्रिय प्रायः सैनिक कार्य करते थे। समय और आवश्यकता को देखते हुए उन्हें पशुपालन तथा व्यापार की भी छूट थी। वैश्यों को व्यापार, कृषि तथा

शिल्पकला अपने आजीविका का आधार बनाने का निर्देश था। लेकिन शिल्प शूद्रो की वृत्ति बतायी गयी है। जबकि शूद्रों का मुख्य कार्य अन्य वर्णों की सेवा करना था।

(3) **सन्तानोत्पति**– गृहस्थ जीवन में सन्तान उत्पन्न करना गृहस्थ का मुख्य धर्म था, जिससे कि संसार में मानव उत्पति का क्रम निरन्तर बना रहे। यदि सब नैष्ठिक ब्रह्मचारी या सन्यासी हो जाते तो सृष्टि क्रम अवरूद्ध हो जाता। अतः शास्त्रकारों ने ऐसा विधान किया है कि गृहस्थ जीवन अपना कर सन्तानोत्पति की जाये, जिससे मानव धर्म, अर्थ, काम की सफल साधना करके मोक्ष को प्राप्त करने में अमर्थ हो सके।

(4) **दान**– दान देना भी गृहस्थ के लिए अनिवार्य कर्तव्य था। उपार्जित धन अपने ही उपभोग के लिए नहीं होना चाहिए, अपितु उसमें पूरे समाज का हिस्सा होता है। जिस प्रकार हमको शरीर भगवान ने प्रदान किया है, उसी प्रकार प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है। कि वह अपनी शक्ति के अनुसार दान करे[70]। दान का महत्व अति प्राचीन काल से रहा। दान सोना, चांदी, रूपये पैसे, भूमि, भोजन, वस्त्र आदि ही नहीं अपितु ऋषियों द्वारा अपने शरीर तक का दान देने के प्रमाण प्राप्त होते है। दधीचि ने देवताओं के कल्याण के लिए अपनी अस्थियों को दान किया था। महाराज शिवी का स्व मांस दान एक कपोत की प्राण रक्षा के लिए था। इस प्रकार दान का बहुत अधिक महत्व रहा है। स्मृतियों में भी दान को गृहस्थ धर्म बताया गया है। उचित समय पर सुपात्र को दिया गया दान इस लोक तथा परलोक में सुख देने वाला होता है[71]।

3. **वानप्रस्थाश्रम** : आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत तीसरा पडाव वानप्रस्थाश्रम है, जो वैदिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। इस आश्रम का प्रारम्भ मनुष्य की आयु के 50 वर्ष व्यतीत होने के उपरांत होता है। इस अवस्था में आकर मनुष्य सव दायित्वो से मुक्त हो जाता है। वह जीवन के परम लक्ष्य 'मोक्ष' की प्राप्ती हेतु अपने जीवन को त्यागमय तथा तपस्वी बनाने हेतु साधना करता है। इस आश्रम में मनुष्य को मोह माया से मुंह मोड़ना होता है। मनुष्य का मोह यदि सांसारिक सुखों एवं सन्तानो में रहा तो वह अपने चित को प्रभु साधना में लीन नहीं कर सकेगा। इसलिए गृहस्थाश्रम भोगने के बाद मनुष्य को 'मोक्ष' हेतु साघना की आवश्यकता है। इसलिए हमारे धार्मिक नेताओं ने इस व्यवस्था को समाज की उत्कृष्टता हेतु सृजित किया है।

वानप्रस्थ आश्रम का जीवन व्यतीत करते समय मनुष्य त्याग, तप, अहिंसा साधना, आत्मचिन्तन, आत्मनिरीक्षण तथा सूक्ष्म ज्ञान क्षेत्र में प्रवेश करता है। उसका लक्ष्य आध्यात्मिक उत्कर्ष तथा समस्त भौतिक सुखों से मुक्ति प्राप्त करने का एक योजनावद्ध उपक्रम है। विद्या की वृद्धि शरीर की शुद्धी और तपस्या की वृद्धी के लिए वान प्रस्थाश्रम अति आवश्यक है।[72] कोटिल्य अर्थशास्त्र के द्वारा भी वानप्रस्थाश्रम में

उद्देश्य की प्राप्ती हेतु मनुष्य कठोर एवं संयमित जीवन का अनुपालन करता है।[73]

पंचमहायज्ञ तथा अतिथि सत्कार इस आश्रम में भी आवश्यक था। मनुस्मृति के अनुसार जो भी भोज्य पदार्थ हों उन्हीं की बलि (पंच महायज्ञ) करे भिक्षा दें (जल, कन्दमूल, फल) और अतिथियों को सन्तुष्ट करे।[74] अन्य कई बातो पर ध्यान केन्द्रित किया गया कि दाढ़ी, मूँछ, नख, केश आदि न कटवाना। वन सुलभ वस्त्र धारण करना आदि। इस प्रकार यह आश्रम सन्यास से पूर्व का प्रशिक्षण काल समझना चाहिए। प्राचीन ग्रन्थों में मनुष्य के कल्याण की जो सुन्दर व्यवस्था की गयी थी उसका श्रेय ब्रह्मण पुरोहितो को ही जाता है क्योंकि धर्मक्षेत्र उन्हीं के संरक्षण में पल्लवित हुआ है।

4. सन्यास आश्रम : जीवन के अन्तिम भाग अर्थात 75 वर्ष की आयु से लेकर 100 वर्ष या अधिक के काल को सन्यास आश्रम की संज्ञा प्रदान की गयी। यह आश्रम व्यवस्था का चौथा पडाव है। वान प्रस्थाश्रम में मनुष्य मोह माया से रहित तथा एकान्तवासी, बन जाता है। सन्यासी को भिक्षु, परिव्राजक, परिवाट, यति, मुनी आदि नामो से भी सम्बोधित किया गया है। वैदिक ग्रन्थों में यति शब्द का प्रयोग हुआ है।[75] उत्तर वैदिक साहित्य में परिव्राजक, सन्यासी तपस्वी योगी आदि शब्दो का प्रचुर समावेश मिलता है। इसका तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की व्यवस्था प्राक् ऋग्वेद काल में मौजूद रही होगी। मनुष्य आवागमन से छुटकारा पाने के लिए 'मोक्ष' को पाना चाहता है। इसलिए सन्यास को 'मोक्ष' प्राप्ती का एक साधन स्वीकार किया गया।

मनु के अनुसार सन्यासी उसे स्वीकार किया जाता है जो लौकिक अग्नि से रहित, गृहहीन, शरीर के रोगग्रस्त होने पर भी अपनी चिकित्सा व्यवस्था न करे। स्थिर बुद्धी, ब्रह्म का मनन करने वाला, आत्म संयमी, समभाव रखने वाला व्यक्ति ही सन्यासी है तथा वह ग्राम में भिक्षाटन हेतु जा सकता है।[76] शास्त्रो का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि 'भ्रमण शीलता' को सन्यासी का प्रधान गुण माना गया है। सन्यासी को स्थायी रूप से किसी ग्राम में बसने का अधिकार न था। शारीरिक कष्ट होने के वावजूद भी उसे भ्रमण करना अनिवार्य था।[77] सन्यास आश्रम में भोजन भी केवल इतना ही आवश्यक था जितने से उसकी प्राण रक्षा हो सके। भिक्षाटन भी दिन में एक बार ही करने का निर्देश था क्योंकि अधिक बार भिक्षाटन से आसक्ति बढ़ने का खतरा था। अन्न के स्थान पर फल, फूल कन्दमूलो को खाने पर ही अधिक बल प्रदान किया गया है।

इस व्यवस्था को ब्राह्मण व्यवस्था का नाम इतिहासकारो ने दिया है लेकिन यह व्यवस्था मनुष्य के सर्वागींण विकास की व्यवस्था थी जिससे समाज ही नही वरन व्यक्ति भी संयत एवं समुन्नत बनता था। इसके द्वारा शारीरिक तथा आत्मिक दोनो का विकास सम्भव था। सन्यास आश्रम द्वारा आध्यात्मिक चिन्तन करके ऋषियो ने समाज को सम्यक ज्ञान दिया जिसे प्राप्त कर मनुष्य ने इहलोक तथा परलोक को

सुधारा है। इन्द्रियों को वश में करने हेतु कमभोजन एवं जितेन्द्रीयता आवश्यक थी। इसलिए इस आश्रम में मनुष्य जितेन्द्रीय बनकर, भ्रमणकर इस संसार का उपकार करता था। सन्यास आश्रम व्यवस्था ब्राह्मणो में तथा भिक्षु व्यवस्था को जैन तथा बौद्ध धर्म ने स्वीकार किया है। इस प्रकार स्मृतिकारो ने इस आश्रम व्यवस्था कों सुदृढ़ किया प्रतीत होता है।

मनोविज्ञानिको, समाज शास्त्रीय एवं धर्मशास्त्रीय चिन्तको ने, बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढावस्था तथा वृद्धावस्था की अर्थ व्यजंना आश्रमों में ध्वनित होती है। इस प्रकार आश्रम व्यचस्था व्यक्ति के जीवन की विकास तथा उत्थान का महत्वपूर्ण आधार थी जिसे ब्राह्मण वर्ग में समाज ने जीवित रखा।

स्मृति युग में वर्ण व्यवस्था की कठोरता के कारण सामाजिक नियम भी कठोर थे। ब्राह्मण वैदिक कालीन वर्ण व्यवस्था यद्यपि इस काल में भी विद्यमान थी किंतु अब यह काम के आधार पर न होकर जन्मगत हो गई थी। स्मृतिकाल में ब्राह्मण के धर जन्म लेने वाली संतान ब्राह्मण होती थी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वर्णजाति आधारित हो गया। किंतु वैदिक युग में इससे भिन्न स्थिति थी। उस समय गुणों तथा कर्मो के आधार पर वर्ण का निर्धारण था। परन्तु स्मृति युग में यह व्यवस्था लुप्त हो चली थी। ब्राह्मण चाहे जितना पतित हो, लेकिन उसका जन्म यदि ब्राह्मण क़ुल में है तो वह ब्राह्मण था। मनु ने ऐसे ब्राह्मणों का उल्लेख किया है जो पतित, नपुंसक और नास्तिक थे उन्होंने ब्राह्मणों को चाहे वे मूर्ख हों या विद्वान हों, देवता ही कहा है[78]।

स्मृतियों के युग के समाजिक संगठन में ब्राह्मण का प्रमुख स्थान तो था ही, ब्राह्मण पुरोहित का स्थान उससे भी अधिक प्रतिष्ठित तथा सम्माननीय था। वेदज्ञ ब्राह्मण पुरोहित अपनी व्यवस्था दे सकता था। अन्य सहस्त्रो मनुष्यों का कथन भी इतना प्रासांगिक एवं धर्मसम्मत नहीं था। वेदज्ञ ब्राह्मणों के एकत्रित होने पर ही परिषद का निर्माण संभव था। परिषदों में विद्वान् ब्राह्मण पुरोहित का होना आवश्यक था। यदि "वेदज्ञ" पुरोहित "किसी परिषद में नहीं हैं, तो वह परिषद अमान्य थी। पराशर ने लिखा है–वेद वेत्ता, अग्नि होत्री ब्राह्मण तीन या चार होने से परिषद होती है[79]। यदि कोई मनुष्य पाप के पतित हो जाता था तो उसे शुद्ध तथा पवित्र करने का कार्य भी ब्राह्मण पुरोहित द्वारा किया जाता था। इसके लिए कार्य की श्रेणी तथा उपाय भिन्न–भिन्न निर्धारित थे। उदाहरणार्थ पाप से मुक्ति के लिए प्रायश्चित का विधान था। पाप तथा महापाप से छुटकारा प्राप्त करने हेतु प्रायश्चित तथा व्रत पालन आवश्यक था। यमस्मृति का कथन है– गोवध या ब्रह्म हत्या करने वाले या फांसी लगाकर आत्म हत्या करने वाले का दाहसंस्कार करने वाला ब्राह्मण "कुच्छ" प्रायश्चित से शुद्ध हो जाता है[80]। प्रायश्चित व्यवस्था का प्रतिपादन मनु ने भी किया है–भूलो को सुधारा जा सकता है, चाहे वह किसी भी प्रकार की क्यों न हो। संस्कारों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित सदा ही करना चाहिए। पाप शुद्धि किये बिना मनुष्य

निन्दनीय लक्षणों से युक्त हो जाते हैं। या मर कर उसका फल भोगने के लिए पुनर्जन्म लेते हैं[80]।

स्मृतियो में कहा गया है कि विद्वान ब्राह्मण पुरोहित समाज को शुद्ध और पवित्र रखे और पाप का आचरण न होने दे। इसके लिए ब्राह्मण को प्रशासनिक अधिकार भी प्राप्त थे तथा राजा को भी उनके निर्देशों का पालन करना होता था। लेकिन इस व्यवस्था के होते हुए भी समाज में दुष्कर्मो तथा पापों की प्रवृति बनी रही। इसका कारण यही है कि अपने को ब्राह्मण बताने वाले लोग स्वयं भ्रष्ट थे। वे स्वंय तो पापों का आचरण करते थे परन्तु दूसरे वर्णो को "प्रायश्चित" कराते थे। इससे उन्हें प्रभूत दक्षिणा मिलती थी। इसलिए पुरोहित वर्ग में लोभ उत्पन्न हुआ तथा लोभ के कारण अन्य दुर्गुण भी पैदा हुए। ऐसी स्थिति का स्मृतिकारों ने संभवतः पूर्वानुमान लगा लिया था। अतः ब्राह्मण के जीवन को त्यागमय तथा तपोनिष्ट बनाने के लिए स्मृतियों में ब्राह्मण पुरोहित के लिए नित्य कर्मो आदि का स्पष्ट प्राविधान किया गया है। ब्राह्मण सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक नैमित्तिक कार्य करे तथा अनिन्दनीय कर्म को त्यागने में क्षण काल भी व्यतीत न करे। सन्ध्या बलि वेश्वदेव इत्यादि कर्मो को त्याग कर अन्य वर्णो के कर्म करने वाला ब्राह्मण पतित हो जाता है। ब्राह्मणों को षडंग सहित वेदों का अध्ययन पंच महायज्ञ के समान है। और यही महातप हैं। जो ब्राह्मण वेद तथा गायत्री को नहीं जानते और सन्ध्योपासना तथा अग्नि होत्र नहीं करते वे नाम मात्र के ब्राह्मण हैं[82]। इस प्रकार स्मृतियों में ब्राह्मण पुरोहित के लिए मार्ग प्रशस्त है क्योंकि यदि पुरोहित पथभ्रष्ट हो जाता है या अन्य वृत्ति अपना लेता है तो वह पौरोहित्य कर्म नहीं कर सकता था।

ब्राह्मण पुरोहित को वेदो का अध्ययन आवश्यक था जब कि अन्य वर्गों के लिए ऐसा न था। कुछ समालोचकों का मत है कि स्मृति युग में अध्ययन अध्यापन ब्राह्मण तक सीमित कर दिया गया था तथा समाज में अन्य वर्ग अशिक्षित थे। परन्तु यह कथन उचित नहीं है। तथा यथार्थ के विरूद्ध है। द्विजति (ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य) निश्चय रूप से सुशिक्षित थे। राजा का धर्म था कि वह अपनी प्रजा के हितों की रक्षा करे और नियमों का पालन कराये। पुरोहित की नियुक्ति भी राजा के द्वारा इसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु की जाती थी। मनु ने लिखा है कि अग्नि होत्र, पक्षयेष्टिआदि क्रमों में समर्थ पुरोहित की ही नियुक्ति करनी चाहिए[83]। मनु ने ब्राह्मणों की उपस्थिति मन्त्री मण्डल में अनिवार्य बतायी। मन्त्री मंडल में पुरोहित का स्थान भी प्रमुख था। वह राजा का गुरू था तथा उसको सन्मार्ग पर चलाने का प्रयास करता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार राजा ऐसे पुरोहित की नियुक्ति करे जो ज्योतिष विद्या में प्रवीण हो, शास्त्रोक्तविधि से राष्ट्र को उन्नत कर सके, दण्ड नीति में कुशल हो तथा यज्ञ आदि कराने में समर्थ हो[84]। पुरोहितों के अतिरिक्त राजा अनेक ऋत्विजों की नियुक्ति भी करता था, जो श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रों के अनुसार यज्ञो को सम्पादित कराते थे[85]। याज्ञवल्क्य ने व्यवहारो अर्थात मुकदमो के निर्णय के लिए

भी ब्राह्मणो को नियुक्त करने का विधान किया। इनको प्राडविवाक् कहते थे नये धर्म को जानने वाले शास्त्रों और लोक व्यवहारों को जानने तथा राग, द्वेष, लोभ आदि से रहित होने चाहिए। वृहद् पाराशर स्मृति में शासन के संचालन के लिए राजा को निर्देश हैकि वह पवित्र, बुद्धिमान, धर्मज्ञ ब्राह्मणों की अन्य मन्त्रियों के साथ उन्नति कराने वाले पुरोहितों की और न्याय करने वाले प्राड्विवाकों की नियुक्ति करे। ब्राह्मण पुरोहित की आज्ञा राजा के लिए शिरोधार्य थी। वशिष्ठ स्मृति के अनुसार राजा के लिए आवश्यक था कि वह ब्राह्मण के आदेश को अन्य तीन वर्णो में प्रसारित करें[86]।

इस युग में ब्राह्मण को बहुत अधिक सुविधा और सम्मान दिया गया था। संस्कार युक्त वेदांगों का ज्ञाता षट् कर्मों को करने वाला वेद आदि के अध्ययन में तथा आचरणों को उत्तम प्रकार से करने वाला पुरोहित ब्राह्मण अवध्य था। राजा को आदेश था कि राजा उसे न तो दण्ड दे न उसकी निन्दा करे तथा तथा न ही उसे देश निकाला दे[87]। मनु ने भी ब्राह्महत्या को उचित न मान कर महापातक कहा[88]। इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मण प्रायः अदण्डय था उसकी श्रेष्ठता कर्म से न होकर जन्म से थी। कहा गया कि निन्दित कर्म करने वाला ब्राह्मण भी जन्म के आधार पर देवता के समान पूजनीय है[89]।

इस युग में समस्त धार्मिक कृत्यों का सम्पादन विशेष रूप से पुरोहितों के निर्देश पर सम्पन्न किये जाते रहे हैं। अतः उनके यजमानों की संख्या बहुत अधिक हो गयी। वृहद धार्मिक कृत्यों की सम्पन्नता और नियमों के पालन करने से ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा बढ़ी। कभी–कभी दान दक्षिणा के सम्बन्ध में यजमान तथा पुरोहित में संघर्ष भी हो जाता था क्योंकि सामर्थ से अधिक दक्षिणा लेना ब्राह्मण पुरोहित अपने जन्म–सिद्ध अधिकार मानते थे। इन पुरोहितों की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी तथा पुरोहित को छोड़ना भी अपराध था। धार्मिक कृत्यों के सम्पादन में पुरोहित की उपस्थिति अनिवार्य थी। मनु कहते है– समर्थ तथा श्रेष्ठ पुरोहित न छोड़े तथा पुरोहित भी अपने यजमान को न छोड़े। यदि वे किसी कारण लडते है तो उन पर सौ–सौ पण दंड होना चाहिए[90]।

इस प्रकार विवेच्य काल में पुरोहित प्रथा अत्यधिक सशक्त तथा संगठित थी। जिसके द्वारा समाज तथा राष्ट्र निर्देश प्राप्त करता था। राष्ट् में शिक्षा, धार्मिक कृत्य के अतिरिक्त राष्ट्र तथा समाज के सर्वांगीण विकास का उत्तरदायित्व संभवतः पुरोहित पर ही निर्भर था।

कुषाण युग में पौरोहित्य

वैदिक धर्म के पुनरूद्वार से धर्म का जो नवीन स्वरूप उपस्थित हुआ, वह निः सन्देह पौराणिक था। उस पर नव लिखित पुराणों की स्पष्ट रूप से छाप पड़ी। प्राचीन काल के प्रकृति देवता तथा यज्ञ स्थलों पर देव मन्दिरों की स्थापना की जाने लगी। जन–साधारण में अन्ध विश्वास की भावना का जन्म हुआ। ऐतिहासिक

महापुरूषों के जीवन चरित्रों में भी देवत्व प्रदान किया गया। जयचन्द्र विधालंकार का कथन है कि पुराने समस्त यज्ञों का पुनरूद्वार नहीं हो पाया और मूर्ति पूजा और अवतार वाद की धारणा प्रारम्भ हुई निः सन्देह अधिकांश जैन, बौद्ध और बोधि सत्वों की जिन और तीर्थंकरों का तथा भागवत धर्म के वासुदेव और संकर्षण की पूजा के नमूने पर था[91]।

इस प्रकार वैदिक धर्म के पुनरूत्थान का युग एक ऐसा युग है, जिसमें बौद्ध तथा जैन धर्मों की नयी प्रेरणा एंव आदर्श भी किसी न किसी रूप में सम्मिलित हुए हैं। प्राचीन संस्कृत एवं धर्म के नाम पर जिस ब्राह्मण हिन्दू धर्म का अभ्युदय हुआ, उसे राज्याश्रय तो प्रदान किया गया, लेकिन वह उस स्थान को प्राप्त न कर सका जो मौर्य से पूर्व था। द्वितीय शताब्दी ई० पू० से द्वितीय शताब्दी ई० तक के अभिलेखों और सिक्कों पर एक सी प्राकृत लिपि है[92]। इसका तात्पर्य यह है कि पंतजलि जैसे संस्कृताचार्यों ने जिस संस्कृत भाषा का प्रचार किया था, वह अभी तक इतनी विकसित न हो पायी थी, कि प्रत्येक स्थान पर प्रयोग की जा सके, अपितु इसके समानान्तर प्राकृत लिपि ही चल रही थी।

हिन्दू ब्राह्मण धर्म का पुनरूद्वार करने वाले राजवशों में मुख्यतः शुंग काण्व आन्ध्र–सातवाहन तथा गुप्त वंश की गणना की जाती है। काण्व वंश की स्थापना भी ब्राह्मणों द्वारा की गयी, जिसका संस्थापक वसुदेव था। वह काण्व शास्त्रीय ब्राह्मण था[93]। जो शुंग वंश के अन्तिम राजा देवभूति का अमात्य था। ब्राह्मण शासन प्रक्रिया जो ब्राह्मणों के नेतृत्व में प्रारम्भ हुआ।

शुंग वंशीय तथा आन्ध्र अनुप्राणित सात वाहन वंशी शासकों ने जिस हिन्दू धर्म को अपनाया वह यज्ञ प्रधान वैदिक धर्म होने के साथ–साथ उसमें मूर्ति पूजा आदि का समावेश भी था। इस समय वैष्णव तथा शैव धर्मों का प्रचलन था। शुंग काल में जिस सनातन वैदिक धर्म का पुनरूद्वार किया गया था उसके उपास्यदेव वासुदेव, संकर्षण और शिव थे। सातवाहनों के धर्म में संकर्षण और वासुदेव पूर्ण पुरूष थे और पूर्ण ज्ञानी थे। उनकी मूर्तियाँ दर्शनो के लिए विद्यान थी। प्राचीन वैदिक धर्म में यज्ञों के कर्म काण्डों की प्रधानता थी। यज्ञ कुण्ड में अग्नि की प्रतिष्ठा करके देवताओं का आह्वान किया जाता था तथा पशु अन्य समिधा आदि की आहुति देकर देवताओं को प्रसन्न किया जाता था। इस समय के यज्ञों का स्थान मूर्तिपूजा ने ले लिया। शुंग वंश ने जिस सनातन वैदिक धर्म का पुनरूद्वार किया था, वह अब पौराणिक धर्म कहना अधिक उपयुक्त है।

आन्ध्र–सात वाहन वंश के पतन के पश्चात उत्तर पश्चिमी भारत में कुषाण नाम की विदेशी जाति का साम्राज्य स्थापित हुआ। चूँकि कुषाण विदेशी थे अतः इस युग में विदेशी संस्कृतियों के अनेक तत्त्वों का भारतीय संस्कृति में समावेश होना स्वाभाविक था। मौर्यो के पश्चात उत्तरी भारत को एक छत्र शासन सूत्र में बाधने का कुषाणों का प्रयत्न सफल हुआ। राजवली पाण्डेय का मत है कि कुषाण–कुजुल

कडफिस हिन्दू कुश पर्वत पार करते हुए बौद्ध हो गया[94]। इससे विदित होता है कि कुषाण शासक जैसे ही भारत की ओर बढ़े वे यहां की संस्कृति से प्रभावित हुए। मौर्य युग के समय बौद्ध धर्म का प्रचार विदेशों में भी हुआ था। परिणाम परिलक्षित होता है कि कश्यप मातंग और धर्मरत्न नामक दो भिक्षु चीन में राजदूत के साथ गये तथा वहां पर बौद्ध धर्म की स्थापना की[95]। अतः स्वाभाविक ही है कि बौद्ध धर्म ने कुषाणों को अवश्य ही प्रभावित किया होगा। कुषाणों ने मध्य तथा पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रसार का मार्ग प्रशस्त किया[96]।

कुषांण वंश में विम कडफिस नामक शासक का साम्राज्य अत्यन्त विशाल था। उसके द्वारा स्वर्ण मुद्रायें भी प्रचलित की गई। ऐसा प्रतीत होता है कि विम ने व्यापार की आवश्यकताओं के लिए सोने की मुद्राओं का प्रचलन किया था। विम की मुद्राओं पर यज्ञवेदी पर आहुति देते हुए राजा का चित्रण अंकित है तथा शिव की मूर्ति अंकित है। टार्न का मत है कि मानवीय रूप में शिव का चित्रण सर्व प्रथम कुषाणोंके समय में ही प्राप्त होता है[97]। डा० जे० एन० बनर्जी ने मोअ की एक भूजा पर शिव का अंकन स्वीकार किया है[98]। लेकिन इसमें सन्देंह नहीं है कि सर्व प्रथम विम ने ही शिव–उपासना का प्रतीक मुद्राओं पर अंकित कराया, जो कि पौराणिक धर्म के मानने का संकेत है। विम कदफिस के पश्चात कुषाण सम्राज्य का शासन कनिष्क के अधीन था। उसकी धार्मिक नीति बौद्धों के प्रति उदार थी। कनिष्क ने बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार में अत्याधिक रूचि दिखाई। बौद्ध धर्म के अत्यन्त प्रतिभाशाली ब्राह्मण अश्वघोष का सनिघ्य भी उसे प्राप्त था। जिससे वह अत्याधिक प्रभावित भी था। इतिहास के कुछ विद्वान कनिष्क की तुलना अशोक से करते हैं यह न्याय संगत नहीं है क्योंकि अशोक अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा से बौद्ध हुआ था किन्तु कनिष्क ने बौद्ध धर्म अपने राजनैतिक लाभ के लिए स्वीकार किया तथा साथ ही वह राज्य की समृद्धि के लिए युद्ध करता रहा। कारण कुछ भी रहे हों, वह बौद्ध धर्म को मानता था तथा उसने बौद्ध धर्म का प्रचार आसपास के प्रदेशों में खूब कराया।

कनिष्क के समय में बौद्ध धर्म के कई सम्प्रदायिक मत हो गये थे। शासन को सुदृढ रखने के लिए बौद्धों में एकता आवश्यक थी। बौद्ध धर्म का प्रमाणिक साहित्य तैयार कराने के लिए कनिष्क ने चौथी बौद्ध संगीति बुलाई। यह संगीति काश्मीर में अश्वघोष के गुरू वसुमित्र की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। बौद्ध सम्प्रदाय के लगभग 500 प्रसिद्ध विद्वानों ने इसमें भाग लिया[99]। महासभा में सभी बौद्ध विद्वानों ने धर्म के स्पष्टीकरण तथा विरोधी तत्व दूर करने के उपाय किये और "महाविभाषा" नामक ग्रन्थ तैयार किया गया जिसकी भाषा संस्कृत थी। चौथी बौद्ध महासभा में जिस बौद्ध बौद्ध धर्म की व्याख्या की गयी वह महायान बौद्ध धर्म था।

इस युग में बौद्ध धर्म का प्रचार तथा बौद्ध धर्म के प्रति राजाओं का सरंक्षण होते हुए भी भारतीय धर्म, चिन्तन, दर्शन, संस्कृति के विकास के साथ–साथ संस्कृत की उपेक्षा की गयी। अपितु, कुषाण शासक संस्कृत सहित्य के महान आश्रय दाता

थे। संस्कृत साहित्य की रचना करने वाले अश्वघोष, नागार्जुन और चरक इस काल के महान व्यक्ति थे। कुषाण काल में महायान सम्प्रदाय ने उन सब मान्यताओं को स्वीकार किया, जिनका हीनयान सम्प्रदाय में अभाव था। प्राचीन बौद्ध धर्म में पूजा–पाठ का महत्व पूर्ण स्थान प्राप्त नहीं था। कुछ मुख्य सिद्वांतों की स्थापना महायान के अन्तर्गत की गयी, जो प्रायः हिन्दू धर्म से काफी समानता रखते हैं। जैसे मूर्तिपूजा, पूजापाठ, पाली भाषा के स्थान पर संस्कृत का प्रयोग आदि समय तथा स्थिति को विचार कर कुषाण काल में यह परिवर्तन कर बौद्ध धर्म को अधिक लोकप्रिय बनाया गया था।

कुषाण काल के अन्तिम राजा वासुदेव के विषय में प० भगवद्दत्त जी का कथन है। कि वह शैव सम्प्रदाय का अनुयायी था[९९]। उसके सिक्कों पर शिव और नन्दी की मूर्ति है। वासुदेव ने पूर्णतया पौराणिक धर्म ग्रहण किया, क्योंकि शुंग युग से इस धर्म के प्रति लोगों में उत्साह की धारा प्रवाहित थी, उसे कनिष्क का बौद्ध धर्म रोक नहीं पाया। महायान सम्प्रदाय के लोगों ने पूजा–पद्धति को स्वीकार किया तथा मूर्तियों का निर्माण किया। बौद्ध धर्म कुषाण काल में कनिष्क के समय में ही पौरोहित्य प्रथा को रोक पाया, लेकिन मूर्तिपूजा तथा देवी–देवताओं की मान्यताओं में सहायक था। विवेच्य प्रसंग में उल्लेखनीय है कि मौर्यतर काल में समय–समय पर जो विदेशी जातियाँ यथा–शक, यवन, यथा कुषाण भारत आई और अधिकांश भू भाग जीतकर अपने राज्य स्थापित किये उससे समाजिक व्यवस्था मे यह समस्या उत्पन्न हुई। जैन तथा बौद्ध धर्म की विचारधाराओं के अनुसार तो कोई कठिनाई नहीं थी किंतु वैदिक धर्म के पुनरूत्थान के इस युग में चतुर्वर्ण्य में विश्वास रखने वाले धर्मावलम्बियों के सामने इन विदेशी जातियों को प्रचलित समाजिक व्यवस्था के अर्न्तगत सामाहित करने की दृष्टि से समस्या उत्पन्न हो गई। इस नई परिस्थिति ने चातुर्वर्ण्य की मान्यता के लिए संकट उत्पन्न कर दिया। गार्गी संहिता पुराण में उल्लेख मिलता है कि इससे सामाजिक व्यवस्था छिन्न–भिन्न हो जायेगी। आर्य अनार्य ब्राह्मण क्षत्रिय आदि का भेद लुप्त हो जायेगा[१०१]। किन्तु वैदिक धर्म के पुनरूद्वार के आचार्यो ने जिस नीति का अनुशरण किया वह वस्तुतः सराहनीय थी। उनका मत था कि शक, यवन, आदि सब जातियां मूलतः क्षत्रिय हैं। ब्राह्मण का सानिध्य न मिलने से येवृष्लत्व को प्राप्त हुई। अतः जब ब्राह्मणों के संपर्क से इन्होंने वैदिक सम्प्रदायों को अपना लिया हो क्यों न इन्हें क्षत्रिय मान लिया जाय? इस प्रकार मनु के सिद्वांत के अनुसार ये समस्त जातियों क्षत्रिय कर्म में समाहित कर ली गई तथा ब्राह्मणों के सम्पर्क से उन्होंने शिव तथा वासुदेव कृष्ण की उपासना प्रारम्भ कर दी[१०२]। हरिदत्त वेदालंकार का कथन है कि जिस प्रकार रोम यूनान का विजेता होकर उसकी संस्कृति से विजित हुआ उसी प्रकार यूनानी शक कुषाण आदि भारतीय प्रदेशों को जीतने के पश्चात् भारतीय संस्कृति से पराजित हुए तथा भारतीय संस्कृति की मान्यताओं के अनुरूप अपने को ढाल लिया[१०३]। कतिपय यूनानी राजाओं ने न केवल

भारतीय भाषा को अपितु हिन्दू देवी देवताओं को भी अपनी मुद्राओं पर अंकित करा कर उन्हें प्रमुख स्थान दिया। यह उनके भारतीयकरण का सुन्दर उदाहरण है। विदिशा के राजा भागदत्त के दरबार में आये यूनानी राजदूत हेलियोडोरस ने वासुदेव की प्रतिष्ठा में गरूड़ध्वज स्थापित कराया था, अपने को वैष्णव धर्म का अनुयायी भागवत कहलाने में गौरव अनुभव किया। इसी प्रकार बेरू नगर (विदिसा) से प्राप्त एक मिट्टी की मुहर पर अंकित लेख के अनुसार डिमिट्रियस नामक एक यूनानी ने वैदिक यज्ञ सम्पन्न कराया तथा यजमान बना[104]। इन साक्ष्यों से आभास होता कि यूनानियों ने राजनैतिक कारणों से प्रारम्भ में अपनी मुद्राओं पर भारतीय भाषाओं तथा देवी–देवताओं को स्थान दिया और कालातंर में वैष्णव धर्म से प्रभावित होकर भारतीय समाज में घुलमिल गयी होगी।

यूनानियों के पश्चात शक् पह्लव तथा कुष्णाणों में भारतीय कारण की प्रक्रिया अपेक्षाकृत तीव्र थी। शंकों द्वारा भारतीय नाम धारण करना यथा वीर्यकमित्र, विजय मित्र और पुत्र इन्द्र वर्मा, अश्व वर्मा, जयदाया, रूद्रदाया आदि उपरोक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं। कुषाण वंशी शासकों द्वारा मुद्राओं पर भारतीय देवी देवताओं के अंकन का उल्लेख किया जा चुका है। इनमें कदफिस द्वितीय तथा वासुदेव निःसंदेह शैव महावलंबी थे। केवल कनिष्क तथा हुविष्क ने अपनी मुद्राओं पर जरथुस्त्री और भारतीय धर्मों के विभिन्न देवी–देवताओं को स्थान दिया।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि भारतीय ग्रन्थों में विदेशी जातियों को वर्णाश्रम व्यवस्था को भंग करने वाला तथा नैतिकता को नष्ट करने वाला कहा गया है। किंतु ये विदेशी जातियों यहाँ बस कर भारतीय भाषा धर्म और संस्कृति को आत्मसात करके तथा सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार कर समाज की अंग बन गयी। अतः इस युग में भी चातुर्वर्ण्य व्यवस्था यथावत रही होगी। तथा समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च रहा होगा। मूर्ति पूजा की दृष्टि से मदिरों में तथा विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों को निः सन्देह पुरोहित के माध्यम से ही सम्पन्न किया जाता रहा होगा। यहां तक कि विदेशी जातियों के पुरोहित ब्राह्मण वर्ग में सम्मिलित कर लिए गये क्योंकि उन्होंने वैदिक विचारधारा को अंगीकार करलिया था। मुल्तान के सूर्य मन्दिर में शकद्वीप (शकस्थान) के ब्राह्मणों को पुजारी के रूप में नियत करना इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है[105]।

गुप्त काल में पुरोहित प्रथा

भारतीय इतिहास में गुप्त काल का विशिष्ट स्थान है। मौर्य युग के पश्चात यही वह युग था जबकि भारत की सभी दृष्टियों से, यथा–राजनैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं वैदेशिक सभी क्षेत्रों में सर्वागीण उन्नति हुई। अतः इस युग को भारतीय इतिहास में स्वर्ण युग कहा जाता है। कुषाणों के पतन के बाद उत्पन्न हुई राजनैतिक अव्यवस्था तथा अस्थिरता को समाप्तं करके गुप्तों ने प्रशासन को स्थिरता प्रदान की। कुषाण साम्राज्य के पतन के बाद तथा गुप्त साम्राज्य के उदय के पूर्व भारत में यद्यपि

नाग वाकाटक आदि राजतंत्रीय राज्य तथा मालव, अर्जुनायन, लिच्छवि यौद्येय आदि गणराज्य समृद्ध तथा शक्तिशाली हुए तथापि गुप्तों ने इन सभी को जीत कर एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की तथा भारतीय राजनैतिक एकता को सुस्थिर किया। कनिष्क के उत्तरवर्ती कुषाण राजाओं ने तथा अन्य राजवंशों नें प्रायः हिदूं धर्म को स्वीकार किया था। ब्राह्मण वर्ग से संबंधित नागवंशशैव थे और नाम के पीछे शिव शब्द का प्रयोग करते थे। इसका अभिप्रायः शिव भक्ति अथवा शिव पूजा से रहा होगा। इस वंश के कुछ राजाओं के नाम के पीछे "नाग" शब्द का भी प्रयोग पाया जाता है। प्राचीन ऐतिहासिक प्रमाणों से विदित होता है कि नागवंशी राजाओं का कुषाणों से भी पूर्व अस्तित्व था। सिद्धों पर भी नाग की मूर्ति पायी गयी है। पुराणों में दो नाग वंशी राजाओं का वर्णन है, जो शुंग तथा कुषाणों से भी पूर्व राज्य करते थे[106]। परन्तु इनका महत्व पूर्ण शासन कुषाण साम्राज्य के पतन के बाद ही आरम्भ हुआ। वीरसेन नाग साम्राज्य का प्रथम राजा था, जिसने कुषाणों को हराकर अपना साम्राज्य स्थापित किया। वीरसेन के सिक्के संयुक्त प्रान्त व पंजाब में पाये गये हैं[107]। पुराणों में इस वंश के सात राजाओं के शासन का उल्लेख प्राप्त होता है[108]। नाग शासन में भार शिव प्रधान थे[109]। इनका राज्य मुख्य रूप से मथुरा तथा पद्मावती में से केन्द्रित था।

भार शिव राजाओं ने प्राचीन हिन्दू धर्म का प्रचार किया। इन्होंने दस अश्वमेध यज्ञों का सम्यक अनुष्ठान कर फिर वेद विहित विधि का विधान किया[110]। हिन्दू धर्मोद्धारक तथा शिव पूजा में भार शिव सम्राटो की प्रबल भावना रही है। तथा दस यज्ञों का सम्पादन करना भी हिन्दू धर्म के लिए बड़ी गौरव पूर्ण बात थी। भार शिव राजाओं ने अनेक शिव मंन्दिरों का निर्माण कराया, जिसमें पूजा पाठ का भी प्रबन्ध किया गया था। पूजा–अर्चना में पुरोहित का मुख्य स्थान था उनको दान–दक्षिणा भी दी जाती थी।

भारशिव वंश के पश्चात वाकाटक हिन्दू राज वंश की स्थापना हुई यह वंश गुप्तों के समकालीन था। इस वंश के राजा प्रवरसेन ने वाजपेय यज्ञ करके प्रभूत दान–दक्षिणा पुरोहितों को दी थी[111]। वाकाटक वंश हिन्दू धर्म तथा हिन्दू संस्कृति का रक्षक था। उन्होंने संस्कृत भाषा का प्रचुर प्रचार किया। उनके शासन काल में संस्कृत का पुनरूत्थान हुआ जो हिन्दू संस्कृति के लिए ठोस एवं समुन्नत कार्य था। वाकाटक राजाओं ने "शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र चिन्ता प्रवर्तते "उस उक्ति को चरितार्थ कर दिखाया। 250 ई० से संस्कृत प्रचार की एक बलवती धारा प्रवाहित हुई।

वाकाटक नरेश कट्टर हिंदू थे वे शिव की उपासना महेश्वर तथा महा भैरव के नाम से करते थे। इस काल में शिव मन्दिरों की अधिक स्थापना की गयी जिनमें शिव की उपासना की जाती थी। इस प्रकार इन नरेशों ने हिन्दूं धर्म की रक्षा की तथा हिन्दू संस्कृति का प्रचार किया। इनके समय में पौरोहित्य प्रथा सबल बनी तथा

ब्राह्मणों का आदर सत्कार अधिक हुआ। ब्राह्मणों को उनके धार्मिक कृत्यों, पूजा पाठ करने पर "दान" दिया जाता था। इन्होंने हिन्दू धर्म के पुनरूथान में जो योग दान किया उसका कुषाण काल के बाद मुख्य स्थान है।

गुप्त राजाओं ने ईशा की चौथी सदी में छोटे–छोटे राज्यों को समाप्त कर भारत में एक विशाल गुप्त साम्राज्य की स्थापना की। इनके समय को हिन्दू संस्कृति में स्वर्ण युग कहा गया है। इस युग में हिन्दू धर्म और संस्कृति का पूर्ण विकास हुआ। इसका प्रचार भारत में ही सीमित नहीं रहा, बाहर के देशों में भी होकर एक बृहत्तर भारत का निर्माण हुआ।

गुप्त काल का आरम्भ श्री गुप्त से होता है।[12] गुप्त शिला लेखों में इसे महाराज लिखा गया है। समुद्र गुप्त ने अपने को प्रयाग की प्रशस्ति में महाराज श्री गुप्त का प्रपोत्र लिखा है।[13] इतिहास के विद्वानों में मतभेद है कि गुप्त वंश के प्रथम राजा का नाम श्री गुप्त था या केवल गुप्त। यहाँ पर श्री गुप्त नाम भी कुछ अपूर्ण सा दिखाई देता है। क्योंकि श्री केवल सम्मान सूचक है। लेकिन यह भी संभव है कि लोग उन्हें श्री गुप्त के नाम से ही संबोधित करना अधिक उचित मानते होंगे। बाद में वे इसी नाम से विख्यात रहे।

गुप्त वंश की स्थापना तथा गुप्त नाम की प्रमाणिकता हमें पुराणों से भी प्राप्त होती है। वायु पुराण में गुप्त वंश की राज्य सीमाओं का वर्णन करते हुए भाक्ष्यन्ते गुप्त वंशजाः (गुप्त के वंश इस पर राज्य करेगें) का उल्लेख मिला है।[14] इससे यह स्पष्ट है कि इस वंश का प्रारम्भ किसी गुप्त नामक राजा ने किया होगा। तद्नन्तर इस वंश के राजाओं ने अपने नाम के बाद गुप्त का प्रयोग किया और इस गुप्त वंश के नाम से सुविख्यात हुआ।

गुप्त वंश का प्रारम्भ चतुर्थ शताब्दी ई० से हुआ, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। भरहुत के बौद्ध स्तम्भ लेख में किसी गुप्त कुल का उल्लेख है, जिसके राजा विश्व देव हुए थे। और उनका पुत्रगोतीतुत (गौप्ती पुत्र) था ऐसा लगता है कि विश्व देव की महिषी गुप्त कुल की महिला था। यह नृपति शुंगों के शासन क़ाल में शासन करता था। एक प्राचीन ब्राह्मी लेख में किसी गुप्त वंशी राज महिषी का उल्लेख है।[15] ई० पू० दूसरी सदी से लेकर तीसरी ई० तक भारत में अनेक गुप्त वंश प्रचलित रहे होगें लेकिन जिस महान गुप्तवंश की स्थापना श्री गुप्त ने की थी उसका काल इतिहाकारों ने तीसरी सदी स्वीकार किया है।

गुप्त वंश के वर्ण को भी निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों ने उनके नाम के पीछे गुप्त शब्द लगा होने के कारण उन्हें वैश्य माना है। जायसवाल ने गुप्तों को मूलतः जाट माना है।[16] डा० राजबली पान्डेय का मत है वाद में वे निखर कर उच्च कोटि के क्षत्रिय बन गये थे।[17] ऐसा भी हो सकता है कि पहले "गुप्त" वैश्य रहे हों तथा वाद में क्षत्रिय वर्ण धारण किया हो क्योंकि गुप्तों का विवाह संबंध क्षत्रिय नागों लिच्छिवियों कदम्बों और ब्राह्मण वाकाटकों के साथ

होता था। प्राचीन काल में क्षत्रिय विभिन्न वर्णो में विवाह कर लेते थे जैसा कि गुप्तों ने ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दोनों वर्णों में विवाह किये। इन्हें क्षत्रिय मानना ही अधिक उपयुक्त है।

मौर्य शासन के बाद गुप्तों ने ही भारत वर्ष की प्रशासनिक एकता को सुदृढ़ किया था। इन्होंने भारत वर्ष को एक सूत्र में बांधा तथा एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। अशोक के बाद भारत में गुप्तकाल में ही इतने बड़े साम्राज्य की स्थापना संभव हुई थीं। परन्तु मौर्य साम्राज्य में बौद्ध धर्म को जो राज्याश्रय प्राप्त था और हिन्दू ब्राह्मण धर्म की उपेक्षा की गई थी, इससे विपरीत स्थिति गुप्तकाल में हुई। इस समय ब्राह्मण धर्म को पुनः प्रोत्साहन मिला। कुषाण काल तथा गुप्त काल के मध्य की अवधि में हिन्दू राजाओं की प्रधानता रही, जिन्होंने ब्राह्मण धर्म को अपनाया तथा वे कट्टर हिन्दू थे। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ तथा ब्राह्मण धर्म को अपनाया। इस युग में यज्ञों के साथ–साथ देवताओं की मूर्तियों तथा मन्दिरों का निर्माण किया गया। संभवतः पुरोहित का स्थान मंदिर की पूजा तथा प्रार्थनाओं के लिए ही रह गया था।

पौरोहित्य का महत्व, जो प्राचीन काल में था, वह गुप्त साम्राज्य में उस गौरव को नहीं पा सका। राज्याश्रय प्राप्त होने पर राजाओं द्वारा (धार्मिक कृत्यों तथा आचरण के लिए) एक विशिष्ट पद की स्थापना की गई जो अशोक के "धर्म महामात्र" तथा आन्ध्रों के "शमन महात्र"[18] के समान था[19]। फिर भी गुप्तों द्वारा जिस धर्म का पालन किया गया, वह ब्राह्मण धर्म था और इनके द्वारा अनेक यज्ञ तथा धार्मिक कृत्यों का सम्पन्न करना पाया जाता है। इनके द्वारा ब्राह्मणों को प्रभूत दक्षिणा देने के उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं।

गुप्त काल में ब्राह्मणों का मुख्य काम पौरोहित्य एवं अध्यापन रहा। ब्राह्मणों के लिए षट् कर्म (यथा अध्ययन, अध्यापन, दान देना लेना, यज्ञ करना कराना) की व्यवस्था थी। ब्राह्मण अन्य वर्णों की वृत्ति भी अपनाते थे। अनेक ब्राह्मण सैनिक तथा प्रशासनिक कार्यों में रत थे। शुद्रक ने लिखा है कि चारूदत्त ब्राह्मण होते हुए भी वणिक का कार्य करता था तथा वह सार्थवाह के नाम से प्रसिद्ध था[20]। इस युग में तैंतीस करोड़ देवताओं और उनकी मूर्तियों का उद्भव हो चुका था, जिनके पूजन में ब्राह्मण पुरोहित संग्लन था। सस्कारों का सम्पादन भी पुरोहित के माध्यम से सम्पन्न किया जाता था। हिन्दू के 16 संस्कार प्रसिद्ध थे।

यद्यपि गुप्त राजाओं ने हिन्दू धर्म को प्रश्रय देते हुए ब्राह्मणों को बहुत अधिक आदर प्रदान किया। फिर भी गुप्त सम्राटों को धर्मान्ध नहीं कहा जा सकता। वे मात्र धर्म निष्ठ हिन्दू थे, जिनका पथ प्रदर्शन प्रायः ब्राह्मण परामर्श दाता ही करते थे। इस युग में ब्राह्मण धर्म की यज्ञ प्रथा का प्रचलन व्यवस्थित था यथा–अश्वमेघ यज्ञों के सम्पन्न करने के साथ–साथ विष्णु के अवतारों की पूजा को भी अधिक महत्व दिया गया। डा० राधा कुमुद मुखर्जी का मत है कि गुप्त सम्राट वैयक्तिक रूप से विष्णु के अवतार थे जिसका वाहन गरूड़ था। वही गरूड़ उनके राष्ट्र ध्वज का

प्रधान चिन्ह बना था।[121] इससे विदित होता है कि यद्यपि गुप्त सम्राट वैष्णव धर्म के आवलम्बी थे, वैष्णव धर्म के प्रति इनमें विशिष्ट श्रद्धा थी फिर भी उन्होंने हिदू धर्म की अन्य शाखाओं में यज्ञिक परम्पराओं के प्रति भी सम्मान प्रदर्शित किया। कतिपय उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि वैदिक धर्म जिसमें यज्ञ का स्थान प्रमुख था, इस युग में लोकप्रिय था। समुद्र गुप्त तथा कुमार गुप्त ने अश्वमेघ यज्ञों को सम्पन्न कराया। इससे उनकी वैदिक यज्ञों के प्रति श्रद्वा का आभास होता है।

समुद्र गुप्त के द्वारा जो अश्वमेघ यज्ञ करने का प्रमाण मिलता है समुद्रगुप्त दिग्विजय प्राप्त की थी, जिसके उपलक्ष में उसने अश्वमेघ यज्ञ का आयोजन किया था। परन्तु इसका विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं होता है। केवल इस यज्ञ की स्मृति में प्रचलित की गई मुंद्राओं में एक तरफ यज्ञस्तम्भ (यूप) में बंधे घोड़े का चित्र है तथा दूसरी तरफ समुन्द्र गुप्त की महारानी हाथ में चंवर लिए हुए है तथा अश्वमेध यज्ञ क्रम अभिलेख अंकित हैं[122]। यह इस वात का प्रतीक है कि दिग्विजय के पश्चात् समुद्र गुप्त ने एकछत्र शासक के रूप में अश्वमेघ यज्ञ संपन्न किया। इसी प्रकार चन्द्र गुप्त विक्रमादित्य तथा कुमार गुप्त द्वारा भी अश्वमेघ यज्ञ सम्पन्न किये जाने के प्रमाण भी सिक्कों द्वारा प्राप्त होते हैं। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा यज्ञ सम्पन्न करने के प्रमाण काशी के दक्षिण में स्थित नगवा नामक स्थान से उपलब्ध एक घोड़े की मूर्ति है, जिस पर चन्द्रगुप्त लिखा है[123]। वह भी अपने पिता के समान पराक्रमी योद्धा था तथा अपनी दिग्विजय के उपलक्ष्य में निःसन्देह उसने भी अश्वमेध यज्ञ किया होगा। इसी प्रकार अपने पितामह तथा पिता की तरह कुमार गुप्त ने भी वैदिक धर्म परम्परा का पालन करते हुए अश्वमेघ यज्ञ सम्पन्न किया। उसके समय का एक सिक्का मिला है, जिसमें एक तरफ घोड़े पर जीन कसी है। इसका मुख विपरीत दिशा की ओर है। इस पर कोई लेख भी प्राप्त नहीं होता है। सिक्के की दूसरी तरफ "अश्वमेध महेन्द्र" लिखा है[124]। इन तथ्यों के संदर्भ में डा० राधा कुमुद मुखर्जी का कथन सही प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में वैदिक धर्म अश्वमेध यज्ञ, वाजपेय अथवा पंच महायज्ञ आदि यज्ञों के सम्पादन द्वारा सुरक्षित था[125]।

भारत वर्ष का प्राचीन धर्म वैदिक धर्म था। इसमें कर्म काण्ड की प्रधानता थी और यज्ञों का महत्व विशेष था। इसी परम्परा को स्थापित करने में गुप्त शासन का योगदान विशेष रहा। वैदिक धर्म को नष्ट करने वाली विदेशी ताकतों को पराजित कर उसने यज्ञों की रक्षा की, तथा ब्राह्मण धर्म की मान्यताओं को प्रचलित किया। इस युग में ब्राह्मण धर्म अपनी चरम सीमा पर था। इस युग में जो हिन्दू धर्म पनप रहा था, वह पौराणिक बन गया था। इस समय हिन्दू धर्म की अनेक शाखायें हो गयी थीं–

वैष्णव मत–गुप्त काल में अपने उच्च शिखर पर था। इस युग में नारायण अथवा नर–नारायण की दृष्टि से मूर्तियों का पूजन तथा निर्माण बहुत प्रचलित हो गया था। कालिदास ने नारायण तथा विष्णु के समान उनकी मुद्राओं पर अंकित परम

भागवत उपाधि से प्रमाणित किया है। इन नरेशों के द्वारा विष्णु भगवान की पूजा की गयी तथा वैष्णव मंदिरों का निर्माण कराया गया। इनके परम पूजनीय देव विष्णु ही थे। जिस प्रकार आज के युग में श्री गणेशायनमः लिखने की प्रथा है, इसी प्रकार गुप्त काल में विष्णु, प्रार्थना संबधी वाक्यों को लिखने की प्रथा रही होगी। किसी कार्य के शुभारम्भ करने से पूर्व विष्णु की प्रार्थना आवश्यक थी। जूनागढ़ वाला अभिलेख विष्णु की प्रार्थना से ही प्रारम्भ होता है। प्रार्थना की भाषा सुन्दर तंथ ललित है–

श्रियमभिमतभौग्यां नेक कालापनीतां त्रिदशपतिं सुखार्थ यो बले राजहार[126]।
कमलनिलयनाः शाश्वतं धाम लक्ष्म्याः यजयति विजितातिर्विष्णुरत्पसजिष्णुः।।

विष्णु की प्रार्थना एक और अभिलेख में भी अपलब्ध हैं जो महाराज बुद्ध गुप्त के एरण वाले स्तम्भ लेख पर है–

जयति विभूश्चतुर्भजश्चतुरार्णथ्वविमुलसलिलः पर्यकः।
जगतः स्थित्युत्पत्तिन्य (यदि) हेतुर्गरूड केतुः।।[127]

इस प्रकार अभिलेखों के प्रारम्भ में विष्णु की प्रार्थना की गयी तथा गुप्तों ने विष्णु भगवान की उपासना के लिए मन्दिर बनवाये। स्कन्द गुप्त कालीन जूनागढ़ का अभिलेख विष्णु मन्दिर के निर्माण का उल्लेख करता है तथा वामन रूप धारी विष्णु द्वारा बलि से लक्ष्मी को छल से हर लेने की बात उल्लिखित करता है[128]। इस युग में विष्णु की पत्नी लक्ष्मी की पूजा का विवरण भी प्राप्त है। इसी युग में दामोदर (नियाजपुर बंगाल) के निकट वराह स्वामी के मन्दिर का निर्माण हुआ था। हूण शासक तोरमाण के एरण से प्राप्त वराह मूर्ति और उसके अभिलेख से "वराह रूप नारायण" के मन्दिर के निर्माण का सन्दर्भ प्राप्त होता है[129]।

गुप्त युग में अवतारों तथा देवी देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित करने तथा उनकी पूजा, अर्चना करने के उद्दश्यों की पूर्ति हेतु जिन मन्दिरों का निर्माण किया गया। वे जन साधारण के लिए धार्मिक कर्म काण्ड स्थल ही न थे, अपितु सिद्धि प्राप्त करने का स्थल भी बन गये थे। देवताओं की मूर्तियों में भगवान का निवास समझा जाता था। इसलिए इस युग में मूतियों के निर्माण को साक्षात भगवान दर्शन स्वीकार किया गया। भगवान का आवास तथा निवास का मदिरों को आलय समझा जाता था। मन्दिरों को भव्य तथा सुन्दर बनाने में भगवान को प्रसन्न करने की भावना निहित थी।

इस प्रथा का प्रभाव ही गुप्त काल के शासकों की भांति दक्षिण के शासकों पर भी पाया जाता है। विष्णु पूजा के प्रचलन के कारण चालुक्य वंशी शासक मंगलेश के आदेश से पर्वत पर कटे गुफा मन्दिर में विष्णु और नारायण तथा वराह और नृसिंह की मूर्ति गढ़ी गयी[130]। इस प्रकार गुप्त काल में वैष्णव धर्म अपनीपूर्ण पराकाष्ठा पर था।

शैव मत– गुप्त काल में विष्णु पूजा के साथ–साथ शिव पूजा का प्रचलन

भी अधिक हुआ शिव उपासकों को राज्य में ऊंचे पद प्राप्त थे। चन्द्र गुप्त द्वितीय के सन्धि विग्रहिक (युद्ध तथा शान्ति के मन्त्री) वीरसेन ने एक गुफा शुम्भ को अर्पित की थी[131]। वीरसेन शैव सम्प्रदाय को मानने वाला तथा पाटलि पुत्र का रहने वाला था। कुमार प्रथम के मन्त्री पृथ्वी सेन ने शिव मन्दिर के लिए दान दिया था, जिसका उल्लेख करमदण्डा के अभिलेख से प्राप्त होता है[132]।

इस युग में शिव को भी पूजनीय तथा अर्चनीय स्वरूप दिया गया तथा शिव मंदिरों का निर्माण किया गया। विभिन्न प्रकार की मूर्तियों का निर्माण भी इसी युग में हुआ होगा, क्योंकि शिव की विभिन्न रूपों की कई मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। वाराणसी शैव धर्म का प्रमुख केन्द्र था। इस काल में शिव की विभिन्न नामों यथा महादेव, माहेश्वर, पशुपति, शम्भू, महाभैरव आदि से स्तुति की जाती थी। प्रतीक रूपों में एक मुखी तथा चतुर्मुखी शिव लिंगों की अराधना भी की जाती थी।

सौर मत– गुप्त काल में सूर्य पूजा का भी अपना एक विशेष स्थान रहा। प्रारम्भिक काल में भी सूर्य का देवों में प्रमुख स्थान रहा था। गुप्त काल में भी सूर्य की पूजा को बल मिला, क्योंकि सूर्य में वह शक्ति है जिसके द्वारा वह सभी प्राणियों को प्रकाश देता है तथा विविध कर्मों के लिए प्रेरित करता है। गुप्त लेखों में कई स्थानों पर सूर्य उपासना का विवरण प्राप्त होता है। कुमार गुप्त के मंदसौर शिला लेख में भगवान भास्कर की स्तुति के अनेक प्रमाण है। उस युग के सूर्य सम्बन्धी श्लोक भी प्रचुर संख्या में मिलते हैं। मन्दसौर में एक सूर्य मन्दिर का निर्माण भी कराया गया[133]। सम्राट स्कन्द गुप्त के इन्दौर से प्राप्त ताम्र पत्र से सूर्य भगवान की स्तुति का उल्लेख मिलता है[134]।

उपरोक्त साक्ष्यों से स्पष्ट है कि गुप्त काल में सूर्य पूजा का महत्व पूर्ण स्थान था और सौर सम्प्रदाय खूब फल–फूल रहा था। सूर्य पूजा के लिए सूर्य मंदिरों का भी निर्माण कराया गया। यहां भक्तजन भजन–कीर्तन, आराधना, पूजा आदि करते रहे होंगे।

शाक्त मत– विष्णु शिव तथा सूर्य की पूजा के साथ–साथ शक्ति पूजा का भी तत्कालीन समाज में विशेष प्रचलन था। सम्राट चन्द्र गुप्त विक्रमादित्य के एक सामन्त द्वारा सांची के पास उदय गिरि पर एक गुहा के निर्माण के साक्ष्य मिलते हैं जिसमें महिषमर्दिनी की मूर्ति प्रतिष्ठित है[135]। उसी स्थान पर अन्य देवी–मूर्तियां भी प्राप्त हुई है। जिनमें सप्तसभातृका, चण्डिका, माहेश्वरी, नारसिंही, कौमारी, वाराही, आदि उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार गुप्त काल धर्मिक क्षेत्र में भी एक क्रांन्तिकारी युग माना जा सकता है–जिसमें ब्राह्मण धर्म के पौराणिक देवी–देवताओं को वैदिक स्वरूप में देखा गया। वैदिक काल में अनेक देवों के स्वरूप प्रायः अमूर्त रहे किन्तु इस युग में उनको मूर्त रूप प्रदान कर उनकी मूर्तियां स्थापित की गयी। मूर्ति निर्माण कार्य यद्यपि गुप्त युग से पूर्व ही प्रारम्भ हो चुका था तथापि इस युग में उसको बहुत प्रोत्साहन प्राप्त हुआ

और वैदिक साहित्य के साथ–साथ स्थापत्य कला की भी प्रगति हुई जनता के धार्मिक जीवन में प्रेरणा का प्रभाव बढ़ने के कारण देवताओं की संख्या में वृद्धि हुई और वैदिक साहित्य के साथ–साथ स्थापना कला की भी प्रगति हुई। जनता के धार्मिक जीवन में प्रेरणा का प्रभाव बढ़ने के कारण देवताओं की संख्या में वृद्धि हुई और विभिन्न देवों तथा देवियों की मूर्तियाँ गढ़ी जाने लगी। उनकी सुरक्षा हेतु मन्दिरों का निर्माण हुआ। उनकी पूजा, अर्चना में पुरोहित ब्राह्मण नियुक्त किये गये थे। उपरोक्त वर्णित देवी–देवताओं तथा धार्मिक मतों के प्रति विश्वास तथा उपासना का संबंध वस्तुतः भक्तिवाद ही था। इस धारणा के साथ–साथ याज्ञिक कर्मकाण्डों की उपेक्षा नहीं की जा सकी। परिणाम स्वरूप विभिन्न देवी–देवताओं के उपासना के साथ–साथ वैदिक कर्मकाण्ड की विधियों का भी प्रचलन हेतु यज्ञ सम्पादित किये जाते थे। जिसमें हवि, बलि भी प्रर्याप्त दी जाती थी। विभिन्न सम्राटों द्वारा अश्वमेध यज्ञ करने का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। इन तथ्यों के संन्दर्भ में यह स्पष्ट होता है कि गुप्त काल में भी पुरोहित की आवश्यकता एंव महत्व पूर्ववत विद्यमान रहा होगा।

साधारणतः वर्णाश्रम व्यवस्था को ब्राह्मण धर्म क़ा आधार माना गया है[136]। मौर्येत्तर काल में चातुर्वर्ण्य का स्वरूप विकसित हुआ था वह गुप्त युग में भी पूर्ववत रहा विभिन्न वर्णो का आधार गुण व कर्म न होकर जन्म ही माना जाता था। यद्यपि मनुष्य का कार्य कुछ भी रहा हो उसे उसी वर्ण का माना जाता था जिसमें वह उत्पन्न होता था। चारों वर्णों का कार्य भी प्रायः वही था जो स्मृतिकारों द्वारा प्रतिपादित किया गया था। समाज में ब्राह्मणों की स्थिति सर्वोच्च थी। प्रायः सभी लोग ब्राह्मणों के आर्शीवाद के आकांक्षी रहते थे–

ब्राह्णानां प्रशस्तानामाशिषः (यशस्य मनुष्यम्) कासूत्र सभी वर्णो द्वारा वर्णाश्रम धर्म का पालन आवश्यक था। इस युग में ब्राह्मणों ने प्रचुर आदर प्राप्त किया था। उन्हें प्रभूत दान–दक्षिणायें भी प्राप्त होती थी। इस युग में यज्ञों की परम्परा के जो प्रमाण प्राप्त होते हैं, उनमें ब्राह्मण पुरोहितों का प्रमुख स्थान परिलक्षित होता है। ब्राह्मणों के लिए धर्म की परम्पराओं के अतिरिक्त यज्ञ, शिक्षा, पूजा, अर्चना तथा दान प्राप्त करना था। दैनिक पांच महायज्ञों का भी विधान इस युग में किया गया था जो गृहस्थ के नित्य नियम हैं। परन्तु इन यज्ञों के व्यावहारिक विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं है। अनुष्ठान और व्रतों को सम्पन्न करने के लिए कई प्रकार की धार्मिक क्रियायें करनी होती थी। जो ब्राह्मण पुरोहितों द्वारा सम्पन्न कराई जाती थी। गृहस्थ व्रत उपवास रहते थे तथा उनका पालन करते थे। अन्यथा वे अभिशाप को भागी होते थे। यज्ञ अथवा अनुष्ठान के बाद ब्राह्मण पुरोहितों को अनिवार्यतः दक्षिणा दी जाती थी[137]।

गुप्त काल में पौरोहित्य की पुनः स्थापना तो हुई, परन्तु पुरोहित का वह स्थान नहीं रह गया था, जो पूर्ववर्ती कालों में था। इस युग में शासन में एक धर्माधिकारी की नियुक्ति के संकेत भी प्राप्त होते हैं। परन्तु वह अधिक शक्तिशाली नहीं था। इस

समय यज्ञ–याज्ञों को सम्पन्न करना अत्याधिक व्ययकारी हो गया था। यह धारणा बलवती थी कि यज्ञ करने के अधिकारी केवल वही है, जिसके घर में तीन वर्ष के लिए खाद्य सामग्री उपलब्ध हो। यह उल्लेखनीय है कि वैदिक देवताओं की मान्यता होने पर भी उसका स्वरूप बदल गया था। इसलिए यज्ञों में भी उनकी उपस्थिति अनिवार्य न रही होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त युग में मूर्ति पूजा का इतना प्रचार हुआ कि देव मन्दिर हिन्दू संस्कृति के केन्द्र बन गये।

पूजा पद्धति में बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के लोग भी विश्वास करते थे। गुप्त काल में ब्राह्मणों को दान प्राप्त होते ही थे, लेकिन बौद्धों को भी पर्याप्त दान दिये गये। गुप्तों के समय में बौद्ध धर्म के प्रमुख केन्द्र कपिल वस्तु, वैशाली श्रावस्ती और कौशल कमजोर पड़ गये थे। गया, मथुरा कौशाम्बी और सारनाथ में नये बौद्ध केन्द्र विकसित हुए, जिसमें बुद्धकी मूर्तियां प्रतिष्ठित कर मन्दिर बनाये गये। चीनी, पाली इत्यिंसिग के[138] द्वारा मृगशिश्वावन बौद्ध बिहार का निर्माण प्रथम गुप्त शासक श्री गुप्त ने कराया। चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन काल में आम्रकार्दव नामक उच्च अधिकारी द्वारा काल नाथ बोट के बिहार को, पांच भिक्षुओं के निःशुल्क भोजन और रत्न गृह में द्वीप जलाने के उद्देश्य से 25 दीनार दान में दिये थे। इस प्रकार गुप्त काल में प्रभूत दान दक्षिणा बौद्ध धर्म के अनुयायियों को भी प्राप्त थी।

जैन प्रतिमायें तथा शिला लेखों से ज्ञात होता है कि जैन धर्म भी इस युग में लोक प्रिय था। जैन धर्म के आवलम्बी उच्च वर्ग के तथा धनी वर्ग से थे। सम्राट स्कन्दगुप्त के शासनकाल का एक स्तम्भ लेख कहोम से प्राप्त हुआ है। इस स्तम्भ के शीर्ष पर जैन तीर्थंकरों की चार मूर्तियों और स्तम्भ के तल पर पार्श्वनाथ की विशाल प्रतिमा उत्कीर्ण है। यह लेख गुप्त संवत 141 का है[139]। इस प्रकार उस युग में अधिक संख्या में जैन मूर्तियों का निर्माण हुआ, जो इस युग की जैन मत की लोक प्रियता को प्रमाणित करता है।

उक्त विवरण से ज्ञात होता है कि गुप्त युग में सभी धर्म तथा मत अपने अपने देवताओं की मूर्ति स्थापित करने तथा पूजा अर्चना में लिप्त थे। ब्राह्मण धर्म के अर्न्तगत विभिन्न देवों तथा देवियों की उत्पत्ति हुई। उनकी मूर्तियों का निर्माण हुआ। इसी प्रकार जैन तथा बौद्ध धर्म की स्तूप गुहा और भगवान बुद्ध तथा तीर्थंकरों की मूर्तियों का निर्माण कर रहे थे। जिनमें मूर्ति पूजा प्रमुख थी।

गुप्त युग में वैदिक धर्म का एक नया स्वरूप हमारे सम्मुख आता है। साधारण प्रचलित अधं–विश्वास, मन्दिरों में पूजा पाठ, कर्म काण्ड तथा पुराणों की गाथायें प्राचीन वैदिक धर्म के अंग बन गये थे इस प्रकार का सम्मिश्रण इस युग की विशेषता रही है। वैदिक धर्म का यह नया स्वरूप आधुनिक हिन्दू धर्म की आधारशिला बना[140]। इसमें यज्ञ तो सम्मिलित थे, लेकिन साधारणः यज्ञों का सम्पादन विशेष अवसरों पर किया जाने लगा। देवों को प्रसन्न करने तथा व्याधियों से छुटकारा पाने

के लिए यज्ञ तथा पूजा पाठ करना आवश्यक था। ब्राह्मणों के लिए अग्निहोत्रकी प्रथा भी लागू की गयी होगी, क्योंकि समाज का यह श्रेष्ठ वर्ण था। पूजा– पाठ, स्तुतिगान, मन्दिरों में पुजारी का कार्य ये ही लोग करते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि धार्मिक सहिष्णुता के इस युग में "पुरोहित" एक पुजारी बन गया था, क्योंकि इस काल में धार्मिक कृत्यों में मदिरों में मूर्ति पूजा ही प्रमुख थी। अतः धार्मिक स्थलों पर एक स्थायी पुजारी का होना आवश्यक रहा होगा। धार्मिक कृत्यों के सरंक्षण के लिए शासन में धर्माधिकारी की नियुक्ति का भी प्रावधान बना, लेकिन वह पूर्व वर्ती काल की भांति जैसा पुरोहित न था। प्रशासनिक क्षेत्र में पुरोहित की स्थिति के संबंध में कोई प्रमाणिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता। प्रयागप्रशस्ति में दृष्टिकोण को कुमारायात्य, अन्तर्राष्ट्रीय तथा न्याय का कार्य उत्तर दायित्व वहन करने वाला कहा गया है। किंतु पुरोहित का मंत्रि–परिषद के सदस्य तथा राजा के परामर्शदाता के रूप में कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता। अतः संभवतः इस युग में ब्राह्मण सम्माननीय तो रहा किंतु पौरोहित्य कर्म पूर्ववर्त्ती काल की स्थिति प्राप्त नहीं कर सका।

संदर्भ सूची

1. डा० सत्यकेतु–पाटली पुत्र की कथा–पृ० 159।
2. श्यामलाल पाण्डेय–राजशास्त्र प्रणेता–पृ० 104।
3. एन० एन० ला–स्टडीज इन ऐशिमेंट हिन्दू पालिटी, भूमिका पृष्ठ 18
4. भगवत शरण उपाध्याय– प्राचीन भारत का इतिहास पृ० 131
5. मैगस्थनीज का भारतवर्षीय विवरण (अंग्रजी) पृ०42-43
6. सत्यकेतु विद्यालंकार–प्राचीन भारत का धार्मिक समाजिक एवं आर्थिक अध्ययन–पृ० 175
7. कौटिल्य अर्थशास्त्र –1/10
8. राधा कुमुद मुखर्जी–चन्द्र गुप्त मौर्य एंड हिज टाइम्स पृष्ठ –81
9. राधा कुमुद मुखर्जी– प्राचीन भारत पृ० 63
10. पुरोहित माया ज्ययाजनाध्यापने नियुक्तममृष्य मांणं राजा अवक्षिपेत। कौं० अर्थ०1/10।
11. कौटिल्य अर्थ 1/18
12. कौटिल्य अर्थ० 1/6
13. सत्यकेतु विद्यालंकार–मौर्य सम्राज्य का इतिहास–पृ० 169
14. मत्रि पुरोहित सखः सा मान्येष्वधिकरणेषु स्थापयित्वा मान्यानुपधाभिः शोधयेत। कौ० अर्थ० 1/16

15. मत्रि पुरोहित सखः सा मान्येष्वाधिकरणेषु स्थापयित्वा मान्यानुपधाभिः शोधयेत कौ० अर्थ० 1/16
15 A. कौ० अ० 1/7, 1/12, 1/6
16. सत्यकेतु विद्यालंकार–मौर्य साम्राज्य का इतिहास 162
17. कौटिल्य अर्थ० 3/37 भाग 3
18. कौटिल्य अर्थशास्त्र 3/14 भाग 3
19. कौटिल्य अर्थशास्त्र 13/15 भाग 3
20. पी० वी काणे–धर्म शास्त्र का इतिहास पृ० 158, भाग प्रथम
21. एन० एन० घोष–अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया–पृ०।। 1
22. के० ए० नीलकण्ड शास्त्री–एज आफ द नंदाज एण्ड मौर्याज–पृ० 113
23. के० ए० नीलकण्ड शास्त्री–एज आफ द नंदाज एण्ड मौर्याज–पृ० 113
24. कौटिल्य अर्थशास्त्र 5/3
25. राधा कुमुद मुखर्जी–चन्द्रगुप्त और उसका काल।
26. कौ० अर्थ० 4/3
27. विमलचन्द्र पाण्डेय–प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास–पृ० 382
28. रोमिला थापर–भारत का इतिहास पृ० 70
29. हेमचन्द्र राय चौधरी–पौलिटिक्स हिस्ट्री आफ इण्डिया–पृ० 308
30. डा० आर० भंडारकर–अशोक पृ० 147
31. डा० आर० भंडारकर–अशोक पृ० 67
32. अशोक का पंजम शिला आदि लेख।
33. पी० वी० काणे–धर्म शास्त्र का इतिहास भाग। पृ० 146
34. आर० सी० मजूमदार–प्राचीन भारत पृ० 90
35. देन्गार–ए हिस्ट्री आफ इण्डिया भाग। पृ० 56 .
36. कौ० अर्थ०
37. राधा कुमुद मुखर्जी– चन्द्र गुप्त मौर्य और उनका काल पृ० 225
38. औदिभज्जो———————— प्रत्याहरिष्यति।। 40 हरि० पृ० 3/2
39. मालविका अग्निमित्र -4/14 दाक्षिण्यं नाम विम्बाष्ठि वेम्बिकानां कुलव्रतम्।
40. एंशिऐंट इंडिया एण्ड खण्ड 19
41. इंडियन ऐटिक्वेरी खण्ड 58 पृष्ठ 53
42. एंशिऐट इण्डिया–खण्ड 23 पृ० 245
43. आर्कियोलाजीकल सर्वे आफ इण्ड़िया रिर्पोट– 1906-7पृ० 59
44. मुच्छटिकम– अंक 9/39 पृ० 34
45. डा० राजबली पाण्डेय– भारतीय इतिहास की भूमिका–पृ० 168

46. हरिदत्त वेदालंकार–प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक (200 ई० पू०300 ई०) पृष्ठ 19
47. राजबली पाण्डेय–भा० इति० की भूमिका पृ० 171
48. डा० जयशंकर म्रिश्र– प्राचीन भारत का समाजिक इतिहास तृतीय संस्करण–पृ० 70
49. जर्नल आफ विहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी 19/8 पृ० 263
50. वाल्युम आफ ईस्टर्न एण्ड इडियन स्टडीज– पृ० 29-30
51. महाभाष्य–वील हार्न का संस्कारण (2/2/34)
52. महाभाष्य–त्रीणि यस्या वदा लानि विद्या योनिश्च कर्म च।
एतच्छि वे वि जिनीहि ब्राह्मणाग्रन्थस्य लक्षणम्। 4/1/48
53. भारतीय इतिहास कोष पृ०246
54. आमन्त्रिका तु––––––––– यथा क्रमम्।। मनु० 2/66
55. विवाहिको विधि' स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः
पति सेवा गुरौ वासः गृहर्स्थोऽग्नि परिक्रिपा।। मनु० 2/67
56. डा० ईश्वरी प्रसाद– प्राचीन भारतीय संस्कृति कला राजनीति धर्म एवं दर्शन–पृ० 413
57. मनु स्मृति– 6/87/
58. रिज डेविड्स–दि डायलाग्स आफ दि बुद्धा पृ०
59. ऋग्वेद–10/109/5, 2/1/2
60. योऽन धीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरूते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः–मनु स्मृति 2/168
61. क्लृप्त कैशन रवशमश्रु दान्तः क्ष्सक्शुक्लाम्बरः शचिः।
एवाध्याये चैव गुक्तः स्यन्नित्मात्म हिंतेषु च।। मनु स्मृ० 2/245
62. उपनयन ब्राह्मणस्याष्टमें नवमें पंचमें काम्यं गर्भा दिः संख्या वषर्सणां ताद्वितीज जन्म तद्यस्मात्य आचार्यो वेदानुवचनाच्च एकादश द्वादशेयोः क्षत्रिय वैश्य योः गो० स्मृ०। अध्याय।
63. गर्भाष्ट में ऽव्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भा देकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः।। मनु 2/36
64. आषोऽशाद्रहमणस्य पतिता सावित्री द्वाविंशते राजन्यस्य द्वयधि कायो वैश्यस्य।
गौतम स्मृ० प्रथम अध्याय
65. न पूर्व गुरूवे किच्चिदुप कुर्वीत् धर्मवित्।
स्नास्यंस्तु गुरूणाज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहारेत्।। मनु० 2/245
66. स गुरूर्यः क्रिया कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति।।
भृत काध्यायको यस्तु उपाध्यायः स उच्चते।। शंख स्मृ० 3/2

67. चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽघं गुरौ द्विजः।
द्वितीय मायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्। मनु० 4/1
68. यथा वायुं समाश्रित्य सर्वेजीवन्तिजन्तव।
तथा ग्रहस्थमाश्रित्य वर्तनते इतराश्रमा।। मनु० 37/3/67
69. देवयज्ञो———————— प्रकीर्तिता।। शखं स्मृ० 5/3
70. भिक्षा च दद्याद्विधिवद् ब्रह्मचारिणे विधिवत् ब्रह्म चारिंणे 3/94
71. काले न्यायगतं पात्रे विधित्व प्रति पादितम्।
ददाति परमं सौख्यमिह लोके परत्य च।। मनु० 3/98
72. विद्या तपोविवृद्धयर्थ शरीरस्य च शुद्धये।। मनुस्मृति 6.30
73. वानप्रस्थस्य ब्रह्मचर्य भूमौशय्या जटाऽजिनधारणाग्निहोलामिषेको देवता तिथि पितृपूजा वनश्यच चाहार। कोटिल्य अर्थ० 1.3
74. यदभक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्बलि भिक्षां च शत्तित।
अम्मूल फलभिक्षा भारर्चयेदाश्रभागतान्।। मनुस्मृति 6.7
75. येनायतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ। ऋग्वेद 8.3-9
76. अनअग्निरनिकेतः स्यातः ग्रामभन्नार्थमाश्रयेत।
उपेक्षकोऽसकुसुको मुनिर्द्धावसंमाहितः।। मनुस्मृत 6.43
77. संरक्षणार्थ जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा।
शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत।। मनुस्मृति 6.68
78. ये स्तेनपतित क्लीबाः ये च नास्तिक वृत्त्य":।
तान हव्य कव्यो विप्रान न र्हान मुनूर ब्रतीत।। मनु० 3/150
79. चत्वारो वा त्रयो वापि वेदवंडग्नि होत्रिणः।
ब्राह्ममणानां समर्था ये परिषत्सा विधीयते।। पारा० स्मृ० 4/19
80. गौ ब्राह्ममणहनं दग्ध्वामृतं चोद्वन्ध ना दिना
पांश छित्वा तथा तम्य कुच्छ मंक चेरद्विजः।। यमस्मृति 27
81. चरित्रव्यमतो नित्यं प्रायश्चितं विशुद्धये।
निन्द्यौर्हि लक्ष्णैर्पुक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनसः।। मनु० स्मृ० 11/53
82. सावित्र्याश्चापि गायत्र्याः सन्ध्योपास्यिाग्नि कार्य योः।।
अज्ञानात्कृषि कर्तारो ब्राह्मणा नामधारकाः।। पाराशर स्मृति 8/11
83. पुरोहितं च कुर्वीतः वृणुयादेव चर्त्विजः।
तेऽस्य गृहयाणि कुर्यवेतानिकानि चः।।
84. पुरोहितं प्रकुर्वीत दैवज्ञमुदितोदितम्।
दण्डनीत्यां च कुशलमथर्वागिरसे तथा।। (याज्ञवल्क्य अ०/3 श्लोक 313)
85. श्रोतमार्तक्रिया हेतोर्वृणुयादेव चरित्र्वजः
यज्ञांश्वेव प्रकुर्वीत विधिभ्दूरिदक्षिणान्।। (याज्ञ० अ०/3 श्लोक 314)
86. त्रयोवणर्मा ब्राह्ममणस्य वशे वर्तेरन तेषां ब्राह्मणों धर्म ये ब्रयातं राज्य धनुतिष्ठते। व स्मृ० प्रथम अध्याय।

87. गौतम स्मृति अध्याय 8।
88. ब्रह्मत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वगनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापितः तैसह।। मनु०।। श्लो० 54
89. एवं यघप्यानिष्टेषु वर्तन्ते संर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं देवतं। हितत्।। मनु० 9:319
90. ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो या जपं चर्तिवक्त्येजेद्यदि।
शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं शतम्।। मनु० 8/388
91. जयचन्द विद्यालंकार–भारतीय इतिहास की रूप रेखा पृ० 727
92. जयचन्द्र विधालंकार–भारतीय इतिहास की रूप रेखा पृ० 720
93. डा० राजवली पाण्डेय–भारतीय इति० की भूमिका पृ० 205
94. डा० राजवली पाडण्ेय–भारतीय इतिहास की भूमिका पृ० 205
95. जयचन्द्र विद्यालंकार–भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० 822
96. राय चौधरी–पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शेन्ट इण्डिया–पृ० 400
97. डब्लू–डब्लू टार्न– दि ग्रीक्स इन वैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया पृ० 402केंब्रिज यू० प्रे० 1938
98. जे० एन० बनर्जी–डवलपमेन्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी पृ०118-120 कलकत्ता 194
99. डा० सत्यकेतु विधालंकार प्राचीन भारत का इतिहास–पृ० 481
100. प० भगवद्दत्त–भारत वर्ष का इतिहास–प्रथम भाग पृ० 68
101. जर्नल आफ विहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी 1930 पृ० 18
102. सत्यकेतु विद्यालंकार–प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक एवं आर्थिक इ० पृ० 182
103. हरिदत्त वेदालंकार– प्रा० भा० का रानैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास (200 ई० पू० 300 ई०) पृष्ठ 598-599
104. हरिदत्त वेदालंकार–प्रा० भा० का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास (200 ई० पू० 300 ई०) पू० 600
105. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार–प्राचीन भा० का धा० सा० एवं आर्थिक इतिहास पृ० 182
106. वृपान्य दिश कांश्चापि–––––– स्मृतः। वायु पुराण 99/366-67।
107. जरनल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी 1867 लन्दन पृ० 876
108. नागा मोक्ष्यनित सप्तवै वायु पुराण–99/382
109. भगवद्रदन्त–भारत वर्ष का इतिहास प्रथम भाग पृ० 69
110. एपिग्राफिका इण्डिका भाग–1, पृ० 269
111. परगितरे डायनास्टिक्स आफ दि कालियाज पृ० 50

112. पं० भगवद्दत्त–भारत वर्ष का वृहद इतिहास द्वितीय भाग पृ० 344
113. वासुदेव उपाध्याय–महाराजा श्री गुप्त-----गुप्स्य। प्रा० भा० अभि० का अ० पृ० 49
114. वायु पुराण–99/383
115. मजूमदार एण्ड अल्तेकर दि वाकाटक गुप्ता एज पृ० 126
116. जायसवाल–जनरल आफ बिहार एण्ड उड़िया रिसर्च सोसाइटी 19,1933 पृ०113
117. राजबली पाण्डेय–भारतीय इतिहास की भूमिका पृ० 219
118. इण्डियन एण्डीक्योरो भाग 8 पृ० 96
119. वासुदेव उपाध्याय– गुप्त साम्राज्य का इतिहास भाग दो पृ० 9, इलाहाबाद 1939
120. मृच्छकटिक–
121. डा० राधा कुमुद मुखर्जी प्राचीन भारत पृ० 100
122. डा० रमेशचन्द्र– मजूमदार–पटना 1968 प्रथम संस्करण डा० अनन्त सदा०– भारतीय जन का इतिहास वाकाटक गुप्त युग। फलक 3,1
123. वासुदेव अपाध्याय–गुप्त साम्राज्य का इतिहास प्रथम खण्ड पृ० 99
124. वासुदेव अपाध्याय–गुप्त साम्राज्य का इतिहास प्रथम खण्ड पृ० 108
125. राधा कुमुद मुखर्जी–प्राचीन भारत पृ० 112
126. श्री राम गोयल–गुप्त कालीन अभिलेख पृ० 225
127. श्री राम गोयल–गुप्त कालीन अभिलेख पृ०288
128. श्री राम गोयल–गुप्त कालीन अभिलेख पृ० 249
129. फुलीट (कार्पस इन्सिकपसनम इन्डिकेरम 3 पृ० 159 भगवतों वारहं भूर्तेज्जगत्परायणस्य नारायणस्य शिला प्रसादः।
130. जय शंकर मिश्र–प्राचीन भारत का समाजिक इतिास–पृ० 729
131. मजूमदार अल्तेकर–भारतीय जन का इतिहास वाकाटक गुप्त युग पृ० 169
132. श्री रामगोपाल इत्यव वेवद्रोण्यां। पृ० 163
133. कारपस इंस्क्रीटशनम इंडिकेरम–भाग–पृ० 83
134. वासुदेव उपाध्याय–यंविप्रा----भास्करः। (प्रा० भा० अभिलेखों का अ० पृ० 69)
135. एलेक्जेंडर कनिंधम–आर्केलाजिकलसर्वे रिपोर्ट भाग 10 पृ० 150
136. वात्स्यासन–कामसूत्र–"वर्णाश्रमाचारस्थिति लक्षणत्वाच्च लोक यात्रायः।"
137. वासुदेव शरण उपाध्याय–गुप्त काल का सांस्कृतिक इतिहास पृ० 348
138. जरनल आफ दि रायल एशियाटिकी सोसाइटी 1882 पृ० 71
139. एपिग्रापिका इण्डिका–भाग 20 पृ० 66
140. आर० सी० जमूमदार तथा पुसाक्कर–द क्लासिकल एज–पृ० 367

4

पूर्व मध्यकाल (600 ई० से 1200 ई०) में पौरोहित्य

हर्ष के शासन काल में पुरोहित की स्थिति

गुप्त शासन की समाप्ति के बाद भारत में विभिन्न जनपदों के राजा स्वाधीन हो गये। कुछ नये राज्य गुप्तों के सामान्तों ने स्थापित किये तथा कुछ नवोदित थे। परिव्राजक महाराज हस्तिन, वल्लभी के मैत्रक और थानेश्वर के प्रभाकर वर्धन के शिला लेखों में गुप्त सम्राटों का नाम प्राप्त नहीं होता है, जो पहले से गुप्तों के अधीन थे। परन्तु गुप्त साम्राज्य का अवसान होने पर स्वतन्त्र राज्य हो गये। इन्होंने प्राचीन भारत की गुप्तों के बाद की राजनीति को प्रभावित किया। थानेश्वर में पुष्यभूति वंश की स्थापना हुई। यह वंश कुछ सीमा तक राजनीतिक स्थिरता को स्थापित कर सका। इसका संस्थापक पुष्यभूति था।

वाण ने जिस पुष्य भूति को हर्ष का पूर्वज बतलाया है वह बांसखेड़ा के अभिलेख द्वारा प्रमाणित नहीं हैं। इसमें हर्ष के पूर्वजों की सूची दी गयी है। उसमें पुष्यभूति नामक शासक का उल्लेख नहीं है[1]। उसमें हर्ष के पूर्वजों की निम्नलिखित तालिका प्राप्त है यथा—नरवर्धन, प्रभाकर वर्धन, आदित्य वर्धन।

उस युग में अन्ध–विश्वास तथा अलौकिक घटनायें घटित होने के प्रकरण प्रारम्भ हो चुके थे। यही कारण था कि वाण ने वास्तविकता को प्रकट न करके मूलभूत विषय को महत्व देने की दृष्टि से हर्ष के जीवन को अलौकिक घटना से सम्बद्ध किया प्रतीत होता है। यह भी संभव है कि इस वंश की स्थापना इन सब राजाओं से पहले हुई हो। पुष्यभूति इस वंश का संस्थापक था। इसके बाद अनेक राजा हुए होगें। परन्तु इनका नाम बांसखेड़ा के शिलालेखों में नहीं लिखा गया होगा। नरवर्धन से ही प्रारम्भ करके हर्ष वर्धन के पूर्वजों के नाम लिखे गये होंगे।

हर्ष पुष्यभूति वंश का सबसे प्रभावशाली शासक था। वह बचपन से ही धार्मिक प्रवृति का था 16 वर्ष की आयु में उसे राज्यभार ग्रहण करना पड़ा क्योंकि हर्ष के बड़े भाई राज्यवर्धन तथा बहनोई का वध हो जाने के कारण वह एकमात्र उतराधिकारी शेष बचा था। इस प्रकार हर्ष का जीवन युवा काल से ही अत्यन्त

संघर्षमय रहा। धार्मिक प्रवृति का होने के कारण हर्ष सभी धर्मावलम्बियों का सम्मान करता था तथा जनहित की भावना के आधार पर शासन कार्य संचालित करता था। राज्य की नीतियाँ ऐसी थी, जिनसे जन–साधारण को किसी प्रकार की कठिनाई न हो। उनके शासन में विद्वानों का आदर सत्कार था तथा शासन तन्त्र में भी ब्रह्मणों का सम्मानीय स्थान था।

हर्ष के शासन में प्रायः सभी धर्मों को समान रूप से आदर प्राप्त था। जीवन के उत्तरार्द्ध में हर्ष यद्यपि बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय का अनुयायी हो गया था किन्तु प्रारम्भ में वह ब्राह्मण धर्म के प्रति ही आकर्षित था, क्योंकि उसका पिता प्रभाकर वर्धन स्वयं सूर्योपासक था। एक स्थल पर "हर्ष चरित्र" में आया है कि हर्ष ने विधिवत् शिव का पूजन किया तथा ब्राह्मणों को सोने चांदी के पात्र बांटे तथा सोने की पत्रलताओं से अंकित खुर और सींगों वाली असंख्य गाय दान में दी[2]। हर्ष द्वारा ब्राह्मणों को गांव दान करने का उल्लेख भी प्राप्त होता है। इस प्रकार ब्राह्मणों को दान देना तथा शिव पूजा से स्पष्ट है, कि प्रारम्भ में वह हिन्दू ब्राह्मण धर्म को मानने वाला था। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में वह वौद्ध धर्म के प्रति आकर्षित हुआ। इतिहास मे बौद्ध धर्म के प्रचार तथा प्रसार में जो स्थान अशोक तथा कनिष्क का है, वही स्थान हर्ष को भी दिया जाता है। हर्ष प्रति पांच वर्ष बाद एक बौद्ध सभा का आयोजन करता था, जिससे बौद्ध धर्म का प्रचार किया जा सके। एक ऐसी ही सभा कन्नौज में हुई, जिसमें ह्वेनसांग ने महायान मत पर प्रवचन किये[3]। हर्ष के ये कार्य बौद्ध धर्म प्रचार में सहायक हुये। ह्वेन सांग के यात्रा विवरण से विदित होता है कि हर्ष बौद्ध मतावलम्बी था किन्तु हर्ष चरितम् के अनुशीलन से इस तथ्य की पुष्टि नहीं होती। बांसखेड़ा तथा मधुवन के उत्कीर्ण अभिलेखों में उसके नाम के आगे "परममाहेश्वर" विरूद का प्रयोग मिलता है जो वस्तुतः इस युग में शैव धर्म के अनुयायियों के लिए किया जाता था। कन्नौज के पश्चात प्रयाग में जब उसने वृहद धार्मिक आयोजन किया तो बौद्ध देवी देवताओं के साथ–साथ उसने सूर्य और शिव की भी पूजा की तथा ब्राह्मण पंडितों को प्रभूत दान दक्षिणा दी[4]। इससे आभास होता है कि हर्ष अशोक तथा कनिष्क के समान, बौद्ध नहीं था। संभवतः ह्वेनसांग के सत्संग में से वह बोद्ध धर्म के प्रति आकर्षित हुआ हो। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कि हर्ष के काल से पूर्व ही मूर्ति पूजा का शुभारम्भ हो चुका था। महायान सम्प्रदाय का आविर्भाव होने से बौद्ध धर्म भी पूजा पाठ में विश्वास करता था। इसलिए ध ार्मिक कृत्यों में पूजा–पाठ का महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया।

गुप्त काल में ब्राह्मण धर्म तथा संस्कृति की जो स्थिति थी वह हर्ष के शासन काल तक बनी रही। हर्ष के बौद्ध होने से इस धर्म पर अधिक प्रभाव दिखायी नहीं देता क्योंकि उससे दान प्राप्त करने वालों में ब्राह्मण प्रमुख थे। हर्ष के विषय में ज्ञात है कि वह विद्वानों का आदर करता था। वह दानी तथा

न्यायप्रिय एवं विद्वान शासक था। उसने ब्राह्मणों को अपने शासन में वरिष्ठ पदों पर नियुक्त किया। हर्ष की मन्त्री परिषद में ब्राह्मण को पुरोहित पद प्राप्त था। एक स्थल पर ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि प्रभाकर वर्धन की शव–शाविका को हर्ष, सामन्त पौर तथा पुरोहित ने कन्धा दिया[5]। इससे आभास होता है कि इस काल में पुरोहित ने धर्म तथा समाज में अपना स्थान बना लिया था।

पौरोहित्य ब्राह्मणों के धर्म का प्रमुख अंग था, किन्तु उसकी उपेक्षा भी की जाती थी। इसी कारण कन्नौज की धर्म महासभा में ब्राह्मणों ने षडयन्त्र से आग लगवा दी। जिसमें अपराधी पाये गये 500 ब्राह्मणों को देश निकाल दिया गया[6]। इस घटना में हर्ष को छुरा मारने के प्रयास का भी उल्लेख प्राप्त होता है। संभव है कि हर्ष ने क्रोधित होकर ब्राह्मणों को मृत्यु दण्ड भी दिया हो। इन घटनाओं से प्रतीत होता है कि ब्राह्मण वर्ग हर्ष से बौद्धों का पक्ष लेने के कारण असन्तुष्ट था।

गुप्त काल में ब्राह्मण धर्म तथा उसके विभिन्न स्वरूपों का वर्णन किया गया है उनमें नयी–नयी प्रवृत्तियाँ जन्म ले रही थीं। सम्प्रदाय तथा उप–सम्प्रदायों में वृद्धि हो रही थी। ब्राह्मण पुरोहितों की पूजा पद्धति भी जटिल होने लगी थी पूजा का एक मात्र अधिकारी पुरोहित वर्ग बन गया था। देवी–देवताओं के दर्शन उनकी इच्छा पर निर्भर थे। धर्म के नाम अन्धविश्वास भी बढ़ रहा था। जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्म अपने प्रसार कार्य में जुटे थे, क्योंकि हर्ष के काल में इन धर्मों पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। अपितु इन धर्मों के प्रचार पर ही अधिक बल दिया गया।

हर्ष ने धर्म प्रचार की परम्परा का पालन किया। परन्तु बाद में बौद्ध धर्म का पक्षपात किया। इससे ब्राह्मण वर्ग असन्तुष्ट तथा विरोधी बना। उस समय सबसे व्यापक प्रचार वैदिक धर्म अथवा ब्राह्मण धर्म का ही था, जिसने विरोधी जैन तथा बौद्ध धर्मों को आत्मसात करने का प्रयास किया। ब्राह्मणों की प्रधानता के कारण ही ह्वेनसांग ने उस समय के भारत को ब्राह्मणों का देश बाताया[7]। ब्राह्मण अपने अधिकार के प्रति सजग एवं जागरूक थे। वे समाज में अपने सम्मान और अधिकारों को बनाये हुए थे। किन्तु इस युग में ब्राह्मण कई भागों में विभक्त हो गये थे।[8] श्रोत्रिय ब्राह्मण वैदिक शास्त्रों में पारंगत होते थे तथा उनके विचार ऊंचे होते थे। कुछ ब्राह्मणों के नाम के साथ भट्ट शब्द जुड़ जाता है, जिससे विद्वता प्रकट होती है।

ब्राह्मणों को राजपुरोहित पद प्राप्त था। राजकुल का ब्राह्मण राजपुरोहित ही पौरोहित्य कर्म करता था। राजनीति में भी उसका बड़ा हाथ था। राजमहल में अन्य ब्राह्मण भी थे, जिनमें गणकों तथा मौदूर्तिकों के नाम लिये जा सकते हैं। ब्राह्मणों को मन्दिरों में पुरोहित या पुजारी भी नियुक्त किया जाता था। कुंचुकी भी राज परिवार में कर्मचारी था, जो ब्राह्मण जाति का वृद्ध होता था[9]।

बुद्धिमान तथा शिक्षित होने के कारण शासन में ब्राह्मणों का प्रभुत्व स्वाभाविक था परन्तु इन लोगों की वृत्ति अधिकांशतः दान–दक्षिणाओं से ही चलती थी। ये लोग राज परिवार के साथ भी संयुक्त रहते थे। जैसा राजा होता था, उसके साथ वे भी वैसा अनुकरण करते थे।

हर्ष काल में वैदिक परम्परा के अनुसार चातुर्वर्ण्य व्यवस्था ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण परम्परा स्थापित थी। ह्वेनसांग ने क्षत्रिय वर्ण की बड़ी प्रसंशा की और ब्राह्मणों के साथ वे भी निर्दोष तथा सीधे–साधे, पवित्र एवं सरल, मितव्ययी कहे गये[10]। वैश्य लाभ के लिए निकट तथा दूर के देशों से व्यापार करते थे[11]। इनका राजनीति में महत्वपूर्ण सहयोग होता था क्योंकि देश की समृद्धि में ये अर्थ पर नियंत्रण रखते थे। वैश्य साहूकार थे जो आपात काल में राष्ट्र की रक्षा में अपना धन लगाते थे। शूद्र इस युग में कृषि भी करता था। ह्वेनसांग इनको कृषक कहता है[12]। शूद्रों के लिए यज्ञ वर्जित थे। अन्य वर्ण यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण यज्ञ भी आवश्य करते रहे होंगे "हर्ष चरित्र" में यज्ञों का वर्णन आया है तथा उनसे उठते धुये का उल्लेख अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। थानेश्वर नगर का उल्लेख करता हुआ वाण लिखता है कि इसकी दशो दिशाये यज्ञों की सहस्त्रों ज्वालाओं से देदीप्यमान रहती थी[13]। यह याज्ञिक अनुष्ठानों के बढ़ते प्रभाव का द्योतक है।

हर्ष के युग में बौद्ध तथा जैन धर्म, ब्राह्मण धर्म के बढ़ते प्रभाव से संकुचित हो गये थे। सभी धर्मों के अनुयायी अपने–अपने मतों को प्रभावशाली बनाने में प्रयत्नशील थे। यही कारण था कि बौद्ध धर्म के प्रति आकर्षित होने के पश्चात महाराजा हर्ष ने कन्नौज महासभा का आयोजन किया, जिसकी अध्यक्षता चीनी यात्री ह्वेनसांग ने की थी[14]। कन्नौज की सभा बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय की विशेषताओं का उल्लेख करने के उद्देश्य से ही बुलायी गयी थी। इस सभा में सभी धर्मों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। अधिवेशन का कार्यक्रम भगवान बुद्ध की मूर्ति के जलूस के साथ प्रारम्भ हुआ। इस जलूस में कन्नौज के मन्त्रीगण हाथियों पर आरूढ़ थे। तथा उनके साथ पीछे राजा, मन्त्री तथा पुरोहित भी उपस्थित थे।

हर्ष धार्मिक वाद–विवाद के प्रेमी थे। वे प्रति पांच वर्ष बाद ऐसी संगीतियों का आयोजन करते थे। उनके जीवन की एक प्रमुख घटना प्रयाग की पंच वर्षीय महामोक्ष परिषद थी।

हर्ष ने अपने शासन काल में पशु वध पर प्रतिबन्ध लगा दिया था[15]। इससे हिंसात्मक यज्ञों का प्रभावित होना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त उसने बौद्ध धर्म के तीर्थ स्थानों में अनेक विहार निर्मित कराये। वह प्रति वर्ष भी बौद्ध संगीतियां बुलाया करता था, जिसमें शास्त्रार्थ होते थे। वाद में विजेताओं को पुरस्कार दिये जाते थे। इस प्रकार उसने बौद्ध धर्म के लिए कुछ ठोस कार्य तो

अवश्य किये। परन्तु इनका प्रभाव समाज में कम ही हुआ। डा० राजवली पाण्डेय लिखते हैं—ह्वेन सांग के यात्रा—वर्णन से ज्ञात होता है कि वैदिक अथवा ब्राह्मण धर्म के साथ—साथ बौद्ध धर्म भी देश में काफी प्रचलित था, यद्यपि धीरे—धीरे इसके मानने वालों की संख्या कम हो रही थी[16]। बौद्ध धर्म के मठ तथा विहार गृहस्थों के दान पर निर्भर थे। शासन की ओर से भी दान के प्रमाण प्राप्त है। लेकिन वे सभी बोद्धो के लिए पर्याप्त नहीं थे। क्योंकि इस युग में केवल महायान को महत्त्व दिया गया। बौद्ध धर्म के आन्तरिक संघर्ष से भी ब्राह्मणधर्म को लाभ हुआ। ब्राह्मण धर्म के मुख्य केन्द्र हर्ष के समय प्रयाग, मथुरा और वाराणसी थे। जैन तथा बौद्ध धर्म की भाँति ब्राह्मण धर्म भी स्पष्टतः मूर्ति पूजक हो चुका था। महायान सम्प्रदाय में बुद्ध तथा बोधिसत्वों की मूर्तियों की पूजा की जाती थी तथा ब्राह्मण धर्म में लोक प्रिय ब्राह्मण देवता आदित्य, शिव तथा विष्णु की मूर्तियों को मन्दिरों में प्रतिष्ठिापित किया गया तथा उनकी पूजा की जाती थी। इस मूर्ति पूजा में पुरोहित का कार्य महत्त्वपूर्ण रहा है।

यद्यपि हर्ष ने अपने शासन काल में बौद्ध धर्म को नव—जीवन प्रदान किया परन्तु इस युग में भी ब्राह्मण धर्म का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। उसकी परम्परायें समाज में जुडे जमा चुकी थी। अतः मौर्य सम्राट अशोक की तरह हर्ष के लिए उसे उखाड़ फेंकना असंभव था। वह स्वयं भी अपने को वैदिक धर्म से पूर्णतया अलग नहीं कर पाया था। उस युग में ब्राह्मण धर्म के प्रर्वतक कुमारिल तथा शंकर जैसे विद्वान भी हुए थे। उनका अगाध पाण्डित्य तथा वाक पटुता के समक्ष बौद्ध निरूत्तर हो जाते थे[17]। इस प्रकार इस युग में ब्राह्मण धर्म राज्याश्रय के बिना भी समाज में अधिक प्रतिष्ठित था। शंकर का असाधारण व्यक्तित्व था जिसने सन्यासी के रूप में वैदिक धर्म का प्रचार किया।

हर्ष के शासन में भी पुरोहित का उल्लेख है तथा राजसभा में अनेको रूप में ब्राह्मण कार्यरत थे। ब्राह्मणों को वह अलग नहीं कर पाया। अर्थात् शासन में ब्राह्मण भी विभिन्न पदों पर कार्यरत थे। इस युग में भी ब्राह्मणों का शासन में पूर्ण प्रतिनिधित्व था। 641 ई० में हर्ष ने चीनी सम्राट की सभा मेंएक ब्राह्मण दूत भेजा था[18]। इस प्रकार हर्ष के समय में वैदिक परम्पराओं तथा संस्कृति के प्रचार का निश्चित रूप से अस्तित्व रहा था। प्राचीन काल में ब्राह्मण पुरोहित पूजनीय था। उसका राजनीति में पूर्ण प्रतिनिधित्व होता था तथा वह राजा पर भी अंकुश रखता था वह धार्मिक सभों का अध्यक्ष था।

पुरोहितों का प्रभाव प्राचीन काल जैसा न रहने पर भी समाज पर ब्राह्मण धर्म का प्रभाव कम न था। हर्ष का समकालीन गौड़ाधिप शासक ब्राह्मण धर्म का पक्षपाती तथा शिव का अनुयायी था। उसको महाराजाधिराज की उपाधि से विभूषित किया गया था। इसका उल्लेख गंजाम के एक पत्र में है जिसकी तिथि 619 ई० है। इस शासक के द्वारा बौद्ध धर्म पर किये गये अत्याचारों का चीनी

यात्री ने वर्णन किया है। एक स्थल पर वह लिखता है कि उसने पाटलिपुत्र के एक पत्थर पर अंकित बुद्ध चिन्हों को मिटाने का प्रयत्न किया। जब वह सफल न हो सका तो उसने उसे उठवा कर गंगा में फेंक दिया[19]। दूसरे स्थल पर वह कहता है कि उसने एक बौद्ध मठ को नष्ट कर दिया[20]। इस प्रकार ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों का धर्मान्ध रूप भी परिलक्षित होता है। यह सब कार्य संभवतः हर्ष की बौद्ध नीतियों के विरोध में किया गया होगा।

ऊपर के विवरणों से यह स्पष्ट है कि हर्ष के युग में ब्राह्मणों का और पुरोहितों का समाज पर बहुत अधिक प्रभाव रहा। यद्यपि हर्ष ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया तथापि वह ब्राह्मण पुरोहितों की उपेक्षा नहीं कर सका। जनता में बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार होने पर भी प्रजा अधिकांश ब्राह्मण धर्म में विश्वास करती थी। ब्राह्मण पुरोहितों के निर्देशों के अनुसार विभिन्न देवताओं के पूजन और यज्ञ समाज में प्रचुर रूप से प्रचलित हो रहे थे।

राजपूत राजवंशों के काल में पौरोहित्य

मौर्य शुंग, गुप्त तथा हर्ष के साम्राज्यों के पतन के पश्चात् सातवीं शताब्दी से 12वीं श० ई० तक का भारतीय राजपूत राजवंशों का इतिहास है। गुप्त वंश के पश्चात हर्ष ने देश को जिस एकृता के सूत्र में सुदृढ़ किया था, उसके बाद वह एकता स्थायी न रह सकी। इस समय उत्तरी भारत में अनेक छोटे–छोटे स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये, जो अपने राज्य विस्तार तथा अस्तित्व की सुरक्षा की दृष्टि से अपने पड़ोसी राजाओं से संघर्ष करते रहते थे। ऐसी स्थिति ने इस देश मे राजनैतिक अस्थिरता को जन्म दिया। दक्षिण भारत में भी चालुक्य वंश के पतनोन्मुख होते ही वहां छोटे–छोटे राज्यों की सत्ता स्थापित हो गई। इस प्रकार हर्ष के पश्चात देश में विकेन्द्रियकरण की प्रवृति प्रबल हो गई। किन्तु राजनैतिक एकता छिन्न भिन्न होने पर भी सांस्कृतिक एकता प्रायः बनी रही। यद्यपि बौद्ध, जैन धर्मों का यत्किंचित प्रसार इस युग में भी रहा तथापि ब्राह्मण हिन्दू धर्म जिसमें कि पौराणिकता का प्रचुर सन्निवेश हो गया था, प्रभावी रहा। अधिकांश राजपूत राज वंश इस धर्म को मानते थे। वे विभिन्न देवी–देवताओं यथा शिव, विष्णु, गणेश कार्तिकेय, शक्ति आदि के उपासक थे। वे वर्ण व्यवस्था का पालन करते थे। उनके प्रशासन में पुरोहित अथवा कुल–पुरोहित विशेष अधिकारी था। अधिकारियों में धर्माध्यक्ष या धर्माधिकारी की नियुक्ति निश्चित रूप से होती थी जिससे राज्य में प्रजाजन धर्म का पालन कर सकें। इसकी समुचित व्यवस्था थी। इस युग में तीर्थ यात्रा का महत्त्व उल्लेखनीय है। पुरोहितो के निर्देश के अनुसार, उनके द्वारा विहित धर्म का पालन करते थे। तीर्थों की सुव्यवस्था के लिए प्रभूत–दान के साथ–साथ पुरोहितों को भी प्रभूत मात्रा में दान–दक्षिणा प्राप्त होती थी।

विश्व में कोई भी व्यवस्था बिना राजनैतिक शक्ति के जीवित नहीं रह सकती, जबकि भारत छोटे–छोटे राज्यों में विभक्त हो गया और निरन्तर युद्धों ने इसकी शक्तियों को क्षीण कर दिया। पश्चिम से आने वाली एक नयी शक्ति ने इस देश को आक्रान्त किया। अरब में इस्लाम के उदय ने एक क्रान्ति उत्पन्न की, जिसने अरबों में एक अभूतपूर्व शक्ति का संचार किया एवं जातियों को एक सूत्र में बांधकर उनको अदम्य शक्ति से भर दिया। इन अरबों ने भारत के पश्चिम में विश्व को जीतकर सम्पूर्ण उत्तरी अफ्रिका को मुसलमान बनाकर स्पेन पर भी अधिकार कर फ्रांस को भी आक्रांत किया था उत्तर में येलेस्टाइन, सुमेरिया, टर्की को मुसलमान बनाकर यूरोप में प्रवेश किया। पूर्व में इरान, ईराक और अफगानिस्तान तक फैल गये थे।

मध्य एशिया उस समय भारत की सांस्कृतिक धरोहर का ही एक अंग था, जहाँ मुख्य रूप से बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ–साथ पौराणिक हिन्दू देवताओं के पूजन की परम्परा भी प्रचलित थी। काबुल और वंक्षु नदियों के तट पर भारतीय धर्म और सभ्यता प्रचलित थी। परन्तु मुसलमानों के प्रबल आक्रमणों के कारण वहां के शासक या तो मारे गये या दास बना दिये गये और वहां की अधिकांश जनता ने इस्लाम धर्म अपना लिया। इसके बाद मुसलमानों की दृष्टि भारत पर पड़ी। बगदाद के श्वलीकाओं ने अपने सेनानियों को पहले समुद्र मार्ग से भारत भेजकर पश्चिमी तट पर आक्रमण कराये किन्तु सफल न हो सके। कालान्तर में बगदाद के शासक हजाज ने आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अपने भतीजे एवं दामाद मुहम्मद कासिम के नेतृत्व में विशाल सेना भेजी, जिसने भारतीय शासक दाहिर को पराजित किया[21]। इसका मुख्य कारण प्रधानतः बौद्धों तथा हिन्दू धर्मावलम्बियों का विश्वासघात था। मुसलमानों की इस विजय ने भारत वर्ष में इस्लाम धर्म के प्रवेश के मार्ग को प्रशस्त किया। भारत वर्ष में मुसलमानों के आने से पहले यवन, शक, हूण, कुषाण आदि जातियों ने आक्रमण किये और यहाँ अपने राज्य स्थापित किये थे जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। वे समस्त जातियां हिन्दू धर्माचार्यो तथा बौद्ध धर्माचारियों के प्रभाव में आकर या तो पौराणिक हिन्दू बन गये या बौद्ध धर्मानुयायी हो गये। उस समय के पुराहितों ने इन सबको हिन्दू बनाकर इन्हें वर्ण प्रदान किये। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उनका राष्ट्रीय करण हो गया। दाहिर के परास्त होने के बाद अरबों की सिन्ध पर विजय हो चुकी थी परन्तु कुछ समय पश्चात भारतीय राजाओं ने अरबों को आगे बढ़ने से रोकने में कुछ सीमा तक सफलता प्राप्त की।

राजपूतों का उदय सातवीं सदी के अन्तिम भाग में हुआ[22]। इतिहास के अनेक विद्वानों का मत है कि वे लोग विदेशी जातियां–शक, कुषाण, हूणों की सन्तान थे, जिन्होंने भारतीय्र भाषा, धर्म तथा संस्कृति को पूर्ण रूप से अपना लिया था। भारत में आकरये शैव, वैष्णव आदि विविध भारतीय पौराणिक धर्मो

को मानने लगे थे। ऐसा भी संभव है कि इन विदेशी जातियों की शुद्धि अग्नि द्वारा की गयी हो। इसलिए इन राजपूतों की उत्पत्ति "अग्नि कुल" से मानी जाती है। कुछ विद्वान "अग्नि कुल" के राजपूतों को शुद्ध क्षत्रिय मानते हैं। इस प्रकार राजपूतों का सम्बन्ध मुख्य रूप से इन बाह्य जातियों से रहा, जिन्होंने भारतीय धर्म एवं संस्कृति को अंगीकार किया था और जिनको इस युग के धर्माचार्यों ने क्षत्रिय वर्ण प्रदान किया। परन्तु इस मत को अधिकांश ऐतिहासिक विद्वान अस्वीकार करते हैं तथा राजपूतों के प्रमुख वंशों का सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी मानकर उन्हें विशुद्ध भारतीय कहते हैं।

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कि हर्ष की मृत्यु के पश्चात उत्तर–भारत की राजनीतिक एकता छिन्न–भिन्न हो गई। उसके विस्तृत साम्राज्य के स्थान पर अनेक छोटे–छोटे राज्यों का उदय हुआ। कन्नौज में यशों वर्मा नामक राजा ने एक शक्तिशाली राज्य स्थापित किया। इसके अतिरिक्त मगध में परवर्ती गुप्त काश्मीर में कर्कोट वंश, नेपाल कामरूप तथा बंगाल आदि में विभिन्न राजवंशों ने अपने राज्य स्थापित किये। यशोवर्मन के पश्चात कन्नौज पर आयुद्ध वंश के राजाओं का शासन रहा। इस अवधि में गुर्जर, प्रतिहार पालवंश तथा राष्ट्रकूटों में कन्नौज पर अधिकार को लेकर उत्तरी भारत में एकछत्र साम्राज्य स्थापित करने की दृष्टि से प्रायः संघर्ष होते रहे हैं। अंततः प्रतिहार राज्य नागभट्ट द्वितीय ने आयुद्व वंश के राजा चक्रायुद्ध को परास्त कर कन्नौज में प्रतिहार वंश के राज्य की नींव डाली। उपर्युक्त राजवंशों के अतिरिक्त कालान्तर में उत्तरी भारत में जिन राजवंशों ने भारत पर राज्य किया उनमें गहड़वाल वंश, चंदेल वंश, चाहमान वंश परमार वंश, चालुक्य तथा कल्चुरिय आदि प्रमुख थे।

गुर्जर प्रतिहार वंश में नागभट्ट द्वितीय के अतिरिक्त मिहिर भोज तथा महेन्द्रपाल शक्तिशाली राजा हुए जिन्होंने चतुर्दिशाओं में विजय करके अपने साम्राज्य का विस्तार किया तथा एकछत्र राज्य की स्थापना करने का प्रयास किया। भोज अपने समय का महान शासक था। इसे भोज, मिहिर भोज, वाराह तथा प्रभास आदि नामों से संबोधित किया गया है। इस वंश के शासकों ने परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर जैसे लम्बे विरूद धारणा किये जो उनकी प्रभुसत्ता सम्पन्न सम्राट होने का द्योतक है।

उपलब्ध साक्ष्यों से विदित होता है कि गुर्जर प्रतिहार वंश ने दीर्घकाल तक शासन किया तथा उनकी शासन व्यवस्था अत्यन्त सुदृढ़ थी। राजा मुख्य रूप से कार्यकारिणी न्यायिक तथा सैनिक कार्य देखता था। राजा का अधिकार सर्वोपरि था। शासन को सुचारू रूप से चलाने के लिए राजा विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति स्वयं करता था। शिलालेखों से प्राप्त अधिकारियों की सूची में महामंत्रिन के पश्चात पुरोहित का उल्लेख मिलता है जिसका प्रमुख कार्य यज्ञ कराना तथा

दान लेना था। राजकार्य में परामर्श देना महामंत्री का कार्य था[23]। ब्राह्मण राज्य में छोटे से लेकर बड़े पदों तक कार्य करते थे। ग्वालियर अभिलेख से विदित होता है कि भोज ने नगर ब्राह्मण को दुर्ग का रक्षक नियुक्त किया था कुछ शिलालेखों में यज्ञ पूर्ण कराने का कार्य ब्राह्मण को सौंपा जाता था जिसे पुरोहित कहा जाता था किन्तु ब्राह्मण का विद्वान होना भी अपेक्षित था। धर्म विज्ञान में रूचि रखने वाला ही ब्राह्मण कहलाता था। वे राजकवि, ज्योतिषी तथा दार्शनिक थे[24]। अतः प्रतीत होता है कि राज पुरोहित के रूप में पुरोहित का महत्व रहा हो।

भारतीय समाज का आधारभूत विभाजन प्रतिहार साम्राज्य में भी विद्यमान रहा। समाज में अन्य वर्णों की अपेक्षा ब्राह्मण का सर्वोच्च स्थान बना हुआ था। अलबरूनी ने ब्राह्मणों के जीवन को चार भागों में विभक्त किया है जो वस्तुतः विभिन्न आश्रमों के द्योतक है। ब्राह्मण के मुख्य कार्यों में पूजा पाठ, अध्ययन करना, यज्ञ कराना, दान लेना आदि प्रमुख थे। यद्यपि ब्राह्मणों की व्यवसाय चुनने की स्वतत्रंता थी किन्तु कुछ नैतिक बंधन भी थे।

गुर्जर प्रतिहार वंश के राजाओं ने धार्मिक कृत्यों के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा व्यक्त की। अतः इस युग में हिन्दू धर्म का अत्यधिक विकास हुआ। भक्ति प्रधान पौराणिक हिन्दू धर्म में कुछ विशेषताओं का समावेश हुआ। विष्णु के अवतार रूपों यथा मत्स्य, कर्म वराह, नरसिंह वामन, राम कृष्ण आदि की उपासना का प्रचलन अधिक हुआ। बुद्ध की श्री विष्णु के अवतारों में गणना की जाने लगी। विष्णु के मन्दिर के निर्माण के भी साक्ष्य मिलते हैं। इसके अतिरिक्त शिव की उपासना, लिंग तथा मानव दोनों रूपों में प्रचलित थी। अंन्य देवी देवताओं में सूर्य, दमोदर, कार्तिकेय, दुर्गा, चण्डिका, अम्बा, लक्ष्मी, बसुंधरा आदि उल्लेखनीय हैं। अल्बेरूनी के अनुसार इन देवी देवताओं की प्रतिमाओं को एक निश्चित मापदण्ड के अनुसार बनाया जाता था[25]।

इस प्रकार प्रतिहार युग में हिन्दू धर्म मुख्यतया मूर्ति पूजा पर आधारित था। अतएव नये मूर्ति निर्माण तथा पूजा पाठ धार्मिक गतिविधियों के अनिवार्य अंग हो गये। इस दृष्टि से पुरोहित की नियुक्ति भी धर्म का आवश्यक अंग बन गयी होगी। इस समय ब्राह्मणे राजाओं से दान प्राप्त करके तथा पूजा पाठ के द्वारा इहलोक तथा परलोक की प्राप्ति हेतु बल देते थे। अलबरूनी के विवरण से ज्ञात होता है कि इस काल में व्रत उपासना का प्रमुख अंग बन गये थे। वर्ष में व्रत रखने के अलग–अलग फल निर्धारित किये गये थे। इन व्रतो के पालन में पुरोहितो की विशेष भूमिका थी।

देवी देवताओं की पूजा विभिन्न व्रतों पर आधारित थी। व्रतों का निर्धारण ब्राह्मण पुरोहितों के निर्देशानुसार किया जाता था। देवी देवताओं को प्रसन्न करने तथा मंगलकामना की दृष्टि से व्रत धारण कराये जाते थे। व्रत पूर्ण होने पर ब्राह्मणों को रूचि कर भोजन से तृप्त किया जाता था और प्रभूत दक्षिणा दी जाती थी।

राजा अथवा समृद्धशाली भक्त ब्राह्मण पुरोहितों के निर्देश पर देवी–देवताओं का सम्मान बहुमूल्य वस्तुओं से करते थे। राजा बहुमूल्य वस्तुयें हीरे आदि अपना कोष देवी देवताओं के चरणों में रख देते थे, जिसके बदले वह यश तथा अपने इष्ट की समीपता का लाभ उठाते थे[26]। व्रत धारण करने के साथ–साथ इस युग में तीर्थ यात्राओं का भी महत्व बढ़ा था। इस समय वाराणसी, पुष्कर, कुरूक्षेत्र, मथुरा आदि प्रमुख तीर्थ थे जिनकी यात्रा करना धार्मिक जीवन का प्रमुख अंग बन गई थी। इस अवसर पर पवित्र नदियों में स्नान किया जाता था तथा धर्मिक अनुष्ठान सम्पन्न करके ब्राह्मण पुरोहितों को दान दिया जाता था। सूर्य ग्रहण तथा चन्द्रग्रहण के अवसर पर भी स्नान करके दानदेना आवश्यक माना जाता था। श्राद्ध आदि अवसरों पर भी स्नान के बाद ही दान देने की प्रथा प्रचलित थी। इन समस्त क्रियाओं में पुरोहित की उपस्थिति अनिवार्य रही होगी। अतः स्पष्ट है कि इस युग में यद्यपि पुरोहित का प्रशासन में प्रत्यक्ष रूप से उतना महत्व प्रतीत नहीं होता किन्तु धार्मिक दृष्टि से पौरोहित्य कर्म की महता बढ़ी। संभव है धर्म भीरू राजा प्रशासनिक क्षेत्र में भी राजपुरोहित के परामर्श की उपेक्षा न कर पाते हो। गुर्जर प्रतिहार वंश के.अतिरिक्त उत्तरी भारत के प्रमुख राजवंशों में गहड़वाल वंश की. गणना की जाती है जिसकी स्थापना चन्द्रदेव ने की थी। इस वंश की उत्पत्ति के विषय में मतभेद हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि वे राष्ट्र कूटों अथवा राठौरों की शाखा थे[27]। राजपूताने की भाटों की कथाओं से संकेत मिलता है कि जोधपुर के राठौरों का उद्‌भव जयचन्द अथवा जितेन्द्रचन्द से है। इससे ज्ञात होता है गहड़वाल कन्नौज में राठौरो (राष्ट्रकूटों) के वंशज थे[28]। मिर्जापुर की पहाड़ी (गुहाओं) में राजनीतिक शक्ति के रूप में उनका उदय हुआ और गहड़वाल कहलाये। शिलालेखों में चन्द्रदेव को शत्रुओं को पराजित करने वाला, कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने वाला तथा देशवासियों को शांति–सुव्यवस्था प्रदान करने वाला बताया गया है। बसहि के अभिलेख के अनुसार जब पृथ्वी पर अत्याचार होने लगे तब गहड़वाल नरेश चन्द्रदेव ने उसकी रक्षा की। **रहन** दान–पत्र से विदित होता है कि जब चन्द्रवंशी तथा सूर्यवंशी नामक दो क्षत्रिय राजवंशों का अंत हो गया तथा वेदों का स्वर अवरूद्ध हो गया तब चन्द्रदेव का अविर्भाव हुआ[29]। इस वंश में चन्द्रदेव के अतिरिक्त मदनपाल, गोविन्दचन्द्र तथा जयचन्द आदि अन्य प्रतापी शासक हुये जिन्होंने अपने राज्य का विस्तार कर एक सुदृढ साम्राज्य की स्थापना की। गहड़वाल वंशीय शासकों के शासन काल में ब्राह्मण पुरोहित का स्थान एक धार्मिक निर्देशक के रूप में विद्यमान रहा। गहड़वाल वंश के शिलालेखों की विशेष सूची में जिन अधिकारियों के नाम मिलते हैं उनमें मत्रिन के पश्चात पुरोहित का उल्लेख मिलता है। महासंधि विग्रहित (युद्ध शान्ति मन्त्री) होने के साथ–साथ मन्त्रीश्वर भी था। इसके विपरीत पुरोहित का प्रमुख कार्य धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न कराना था। लक्ष्मीधर का मत है कि पुरोहित को धर्म शास्त्रों का मर्मज्ञ ज्योतिष विशेषज्ञ, विभिन्न धार्मिक क्रियाओं का सम्पादन करने वाला तथा ब्राह्मण वंशी होना चाहिए[30]। उल्लेखनीय है कि

अन्य वर्णों में योग्यता होने पर भी केवल ब्राह्मण ही पुरोहित होते थे। उस युग में ऐसा प्रतीत होता है कि शास्त्रों में पारंगत होना इतना अनिवार्य नहीं था जितना ब्राह्मण वंश में जन्म लेना।

पुरोहित राजाओं की दया पर निर्भर थे, क्योंकि शासकों से उन्हें दान–दक्षिणा प्राप्त होती थी राजा के धार्मिक कार्यों को सम्पन्न कराना ही उनका मुख्य कार्य रह गया था। राजा को वे भविष्य वाणियों, ज्योतिष आदि के अंध–विश्वासों में भी लिप्त रखते थे। यद्यपि गहड़वाल वंशीय शासक सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु थे परन्तु मुख्यतः वे हिन्दू धर्म के उपासक ही थे। इनकी मुद्राओं पर घाटी की आकृति, विष्णु वाहन गरूड़ का प्रतीक है।

गहड़वाल शासकों के शिला लेखों में विष्णु की पत्नी लक्ष्मी की पूजा करने का उल्लेख प्राप्त होता है[31]। चन्द्रावती अभिलेख में विष्णु पूजा से संबंधित कई प्रसंग है। इस अवसर पर प्रतीत होता है कि गहड़वाल वंशीय शासकों के प्रमुख देवता विष्णु थे तथा वैष्णव धर्म उनका प्रमुख धर्म रहा होगा। अन्य देवी देवताओं में शिव, वासुदेव और सूर्य की पूजा के प्रमाण भी मिलते हैं। ब्रह्मा उनका प्रिय देवता था[32] इस प्रकार हिन्दू देवी–देवताओं में तथा मूर्तिपूजा में गहड़वाल नरेशों का विश्वास अधिक था। हिन्दू धर्म के पवित्र स्थानों पर, जहाँ पर पुजारियों की नियुक्ति की जाती थी, पुरोह्तिों के अतिरिक्त सेना का प्रबन्ध उनकी सुरक्षा के लिए करना अनिवार्य हो गया था क्योंकि मन्दिरों में भक्तजन पर्याप्त मात्रा में सोना, चांदी तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुएं अपने आराध्य देव को प्रसन्न करने के लिए अर्पित करते थे। मन्दिर समृद्ध थे। अतः तीर्थ स्थानों और मन्दिरों का उत्तरदायित्व राजाओं पर था। इस युग में काशी, कुशिक, इन्द्र स्थानीयक तथा उत्तर कोशल (अयोध्या) चार प्रमुख तीर्थ थे। सारनाथ के लेख के अनुसार गोविन्दचन्द्र ने काशी की रक्षा के लिए हरि के रूप में अवतार लिया था[33]। वस्तुतः गहड़वाल सम्राटों ने प्रारम्भ से ही हिन्दू धर्म की उन्नति के लिए अनेक कार्य किये। विभिन्न शिलालेखों में उन्हें धर्म का रक्षक्र बताया गया है। यवनों की प्रतिशोघात्मक धार्मिक नीति को दृष्टिगत रखते हुए गहड़वाल नरेशों द्वारा हिन्दू धर्म की उन्नति के साथ–साथ उसकी रक्षा सम्बन्धी व्यवस्था करना समयानुकूल थी।

राज्य में अकाल, महामारी तथा अशुभ बातों के निराकरण हेतु लक्ष्मीधर ने 'कृत्यकल्प तरू' में राजा को सात प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान यथा देवयात्रा, कौमुदी महोत्सव, इन्द्रध्वजोचार्य, नवरात्रि पूजा, हिंस पूजा, वसोर्धारा तथा गवोत्सर्ग आदि सम्पन्न करने का निर्देश दिया है। उल्लेखनीय है कि इन समस्त धार्मिक अनुष्ठानों को पुरोहितों के माध्यम से ही सम्पन्न किया जाता रहा है।

गहड़वाल कालीन समाज परम्परागत वर्णव्यवस्था पर ही आधारित था किन्तु समय तथा परिस्थिति के अनुसार इसमें परिवर्तन आना स्वाभाविक ही था। ब्राह्मण का सम्मान पूर्वकालों की भांति ही इस युग में भी था। उनके प्रमुख कार्य

धर्मशास्त्रों में विहित कर्म ही थे। इस वंश के शासकों ने भी अधिकांश दान ब्राह्मणों को ही दिये। किन्तु इस युग में ब्राह्मण वर्ग जातियों तथा उप–जातियों के विभाजन से नहीं बच पाया। कमौली शिलालेख के अनुसार पण्डित, महापण्डित, अवस्थी, दीक्षित, द्विवेदी, चतुर्वेदी, त्रिपाठी आदि उपाधियों तथा उप–जातियों को लिखने की परम्परा प्रारम्भ हो गई थी[34]। ब्राह्मण आपत्तिकाल में अपने निर्धारित कार्यों के साथ–साथ अन्य वर्णों की वृति भी अपना सकता था। उपरोक्त साक्ष्य इस तथ्य के प्रतीक है कि समाज में यद्यपि ब्राह्मणों का सम्मान पूर्ववत था परन्तु आन्तरिक जातीय संघर्ष तथा बाह्य आक्रमणों के कारण उनकी स्थिति को निःसन्देह प्रभावित किया होगा।

चाहमान वंश के शासन काल में ब्राह्मण वर्ग एक नहीं रह गया अपितु वह अनेक जातियों में विभक्त हो गया था। यद्यपि इस विभाजन का संकेत गुप्त काल में ही स्पष्ट दिखायी देने लगा था। किन्तु इस युग तक आते–आते यह परिपक्व स्थिति में पहुँच गया।

वस्तुतः देखा जाय तो हिन्दू समाज का प्राचीन मूल आधार वर्ण व्यवस्था ही था। यह व्यवस्था चाहमान युग में अव्यवहारिक हो गई थी। विभिन्न जातियों उप–जातियों के विभाजन तथा उनके कार्यों में बदलते स्वरूप ने तत्कालीन समाज का रूप ही परिवर्तित कर दिया। चाहमान वंश के साक्ष्यों में जातिगत समाज के दर्शन होते हैं। पुष्कर अभिलेख में पुष्कर जाति का उल्लेख है। राजस्थान के अन्य प्रदेशों में ब्राह्मणों की विभिन्न उप–जातियों यथा अवस्थी, पुरोहित, द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी, मिश्र, दीक्षित आदि विद्यमान थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग में पुरोहित वर्ग एक जाति विशेष के रूप में समाज में अपना अस्तित्व स्थापित करने हेतु प्रयत्नशील था। इस समय पुरोहितों ने धार्मिक धर्मान्धता का वातावरण भी उत्पन्न कर दिया था। क्योंकि यवनों के आक्रमणों से उत्पन्न स्थिति में भारतीय संस्कृति की पवित्रता का भार इन्हीं के कन्धों पर था। लेकिन, ब्राह्मणों ने आध्यात्मिक श्रेष्ठता तथा नैतिक आदर्शों की अपेक्षा जन्म से पवित्रता की लक्ष्मण रेखा बना दी। जिससे ब्राह्मणों में विभिन्न उप–जातियाँ होना स्वाभाविक ही थी।

सुदृढ़ धार्मिक परम्पराओं के सन्दर्भ में जन–साधारण तो ब्राह्मण पुरोहित की बात मानता ही था, शासक भी उनसे प्रभावित थे। यद्यपि चाहमान वंश के नरेशों ने जैन धर्म को भी प्रश्रय दिया। तथापि अधिक महत्व ब्राह्मण धर्म का ही रहा। प्राचीन परम्परा के देवी देवताओं की पूजा का पूर्ण प्रचलन इस युग में भी रहा। इनमें शिव, ब्रह्मा और विष्णु मुख्य थे। चाहमान वंश में शैव धर्म अधिक लोक प्रिय था। जहाँ तक प्रशासनिक क्षेत्र का प्रश्न है चाहमान वंश के शासन काल के जिन अधिकारियों का उल्लेख मिलता है उनमें एक अधिकारी पौराणिक का नाम उल्लेखनीय है। संभवतः इस काल में पुरोहित को पौराणिक नाम से संबोधित किया जाने लगा था क्योंकि इस मंत्री का कार्य धार्मिक क्रियाकलापों

से ही संबंधित था। हम्मीर महाकाव्य में पुरोहित का नाम केन्द्रीय अधिकारी के रूप में भी मिलता है[35]। इस प्रकार पुरोहित को संभवतः शासन कार्य में भी महत्व दिया जाता था। राजपूत राजवंशों में चन्देल वंश का भारतीय इतिहास तथा संस्कृति के क्षेत्र में प्रमुख योगदान रहा है। जनश्रुतियों के अनुसार इस वंश की उत्पत्ति चन्द्रमा से बताई गई है। इस राजवंश में हर्ष यशोवर्मन, धंग विद्याधर तथा कीर्तिवर्मन आदि शक्तिशाली शासक हुए जिन्होंने सुदृढ़ राज्य की स्थापना के साथ–साथ सांस्कृतिक क्षेत्र में भी उल्लेखनीय कार्य किये। चन्देल वंश के शासनकाल में यद्यपि समय–समय पर राज्य की सीमायें घटती–बढती रही किन्तु प्रमुख रूप से इस वंश के शासकों का कार्य क्षेत्र खजुराहो, कालिंजर, अजयगढ़ आदि रहा। चंदेल राज्य जैज़ाकभुक्ति के नाम से भी संबोधित किया जाता रहा, जिसे विद्वान वर्तमान बुन्देलखण्ड क्षेत्र का प्राचीन नाम मानते हैं। परम्पराओं के अनुसार चन्देलों ने आठ दुर्गो का निर्माण किया था। जिनमें कालिजंर और अजयगढ़ की पुष्टि शिलालेखों से भी होती है[36]। खजुराहो में भी अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया गया जिनमें 30 मंदिर आज भी चन्देल काल के ज्वलंत उदाहरण हैं। राजपूत राजवंशों में चंदेल वंश का भारतीय इतिहास तथा संस्कृति के क्षेत्र में प्रमुख योगदान रहा है। जनश्रुतियों के अनुसार इस वंश की उत्पत्ति चंद्रमा से बताई गयी है। चन्देल कालीन राजनीतिक धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति के संबंध में तत्कालीन अभिलेखों तथा साहित्यिक साक्ष्यों से प्रचुर प्रकाश पड़ता है। शिलालेखों से विदित होता है कि राजा यद्यपि सर्वोच्च सत्ताधारी था परन्तु फिर भी उसका आदर्श वही था जो प्राचीन साहित्य तथा धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित किया गया है। राजा प्रजा की भावनाओं का आदर करता था तथा विधि के अनुरूप शासन चलाता था। शिलालेखों में हर्ष तथा धंग को विधि का पालन कर्त्ता बताया गया है[37]। शासन कार्य चलाने के लिए राजा अधिकारी नियुक्त करता था। चन्देल विवरणों से प्राप्त अधिकारियों की सूची में पुरोहित का नाम सबसे ऊपर मिलता है यथा पुरोहित, सचिव, पण्डित आदि जनश्रुतियों से चंदेलों की उत्पत्ति के विषय में जो प्रकाश पड़ता उससे भी आभास होता है कि पुरोहित का राजा से महत्त्वपूर्ण संबंध रहा होगा।

इस काल में भी समाज, परम्परागत चार वर्णों में ही विभाजित था, जिसमें ब्राह्मण सर्वोच्च थे। ब्राह्मण अपना अधिक समय धार्मिक कार्य में ही व्यतीत करते थे। एक शिलालेख से विदित होता है कि एक ब्राह्मण वेद, वेदान्त, इतिहास पुराण तथा मीमांस का ज्ञान देने के लिए सदैव तत्पर रहता हैं तथा सत्कर्म करता है[38]। प्रबोध चन्द्रोदय में भी ब्राह्मणों के ज्ञान एवं शिक्षा के अनुराग के प्रति प्रशंसा की गई है। यह इस बात का प्रमाण है कि ब्राह्मण प्रशासनिक कार्यों के अतिरिक्त विद्यादान से भी जुड़े थे। शिलालेखों में ब्राह्मण सेनापति, धर्माधिकरण तथा उनके कार्यों का भी वर्णन है। वघेरी शिलालेख में ब्राह्मण परिवारों की सूची

उद्धृत की गई है। पांच वंश से विभिन्न पदों पर कार्यरत थे। अतः स्पष्ट है कि चन्देल शासकों के काल में भी ब्राह्मण केवल धार्मिक कृत्यों तक ही सीमित नहीं थे। यह भी उल्लेखनीय है कि इस समय ब्राह्मण वर्ग अनेक उप–जातियों में विभाजित हो चुका था। शिलालेखों में ब्राह्मण के गोत्र तथा प्रवर दोनों के उल्लेख मिलते हैं। परमर्दी के दान पत्रों में 309 ब्राह्मणों को दान दिये जाने का उल्लेख है जिनके गोत्र, प्रवर तथा शाखायें सभी दी गई हैं[39]। अतः संभव है पौरोहित्य कर्म करने वालों का भी एक पृथक वर्ग बन गया हो और उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखा जाता रहा हो।

चन्देल शासक विष्णु तथा शिव के परम भक्त थे। शिलालेखों में विष्णु तथा शिव के विभिन्न रूपों की पूजा का वर्णन मिलता है। खजुराहों के अधिकांश मंदिर इन्हीं देवताओं की आराधना की दृष्टि से निर्मित प्रतीत होते हैं। बौद्ध तथा जैन धर्म को भी चंदेल शासकों ने सम्मान दिया। इन धर्मों से भी संबंधित कतिपय मंदिर खजुराहों में विद्यमान हैं जिनमें बुद्ध एवं तारा तथा पार्श्वनाथ की मूर्तियां है। वस्तुतः यह वह युग था जब निरंतर मुस्लिम आक्रमणों से हिन्दू संस्कृति को खतरा उत्पन्न हो गया था। तत्कालीन शासकों के समक्ष हिन्दू धर्म की रक्षा, एक अहम प्रश्न रहा होगा। उन्हें यह आभास हुआ होगा कि परस्पर धार्मिक मतभेदों को भुलाकर धर्म के मूल तत्वों के आधार पर एकता स्थापित करनी आवश्यक है। संभवतः उपर्युक्त मंदिरों के निर्माण के पीछे यही भावना रही हो। पूर्व मध्यकालीन राजवंशों में परमार वंश का भी अपना एक विशेष स्थान है। समकालीन लेखकों, जनश्रुतियों, परमारों के शिलालेख तथा मुस्लिम साक्ष्यों में इस वंश की उत्पत्ति अग्नि कुल से बतायी गई है[40]। इस वंश का संस्थापक उपेन्द्र नामक शासक था जो संभवतः राष्ट्रकूट नरेश गोविन्दचन्द्र तृतीय का सामंत था। नवस्पहसंड चरित तथा उदयपुर प्रशस्ति से विदित होता है कि वह एक दानी राजा था तथा यज्ञों के लिए प्रसिद्ध था[41]।

उपेन्द्र के अतिरिक्त इस वंश के अन्य शक्तिशाली शासकों में वाक पति मुंज तथा भोज उल्लेखनीय हैं जिन्होंने वीरता में ही नहीं अपितु विद्वता में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया। इन नरेशों के दरबार में विद्वानों का अत्यधिक सम्मान था। राजा मुंज के दरबार में दो प्रसिद्ध लेखक धनज्जय और धनिक उसकी राज सभा की शोभा थे[42]। वह स्वयं भी उच्च कोटि का विद्वान था। सिन्धुराज का उत्तराधिकारी भोज (1018-1060 ई०) इस वंश का महान व्रतीय नरेश हुआ, जिस ने मुंज की विजय–नीति का अनुसरण करते हुए एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। उदयपुर की प्रशस्ति के अनुसार उसने–चेदि के इन्द्र नाथ गुजरात के प्रथम जोग्गल और भीम, लाट और कर्णाट के राजाओं, गुर्जर और तुरुष्कों से युद्ध किये। विहार में पश्चिमी भाग पर राजा भोज का अधिकार होने के कारण ही आरा तथा उसके आस–पास का क्षेत्र भोजपुर कहलाया। उसने चालुक्यों तथा कलचुरियों को भी परास्त किया। बाद में भोज के पुराने शत्रुओं (सोंल

कियो और कलचुरियो) ने आपस में संघ बनाकर उसका वध कर दिया। इसके बाद परमारों की शक्ति क्षीण हो गयी तथा 1305 में इस वंश का अन्त हो गया।

परमार वंश ने शैव मत को अपनाया था। उन्होंने बहुत से मन्दिरों का निर्माण किया, जिनमें नील कंठेश्वर का मन्दिर मुख्य है। इस मन्दिर का निर्माण उदयादित्य ने उदयपुर में कराया था। पुरोहित इस समय देवी देवताओं के अलौकिक रूपों का वर्णन किया करते थे। ताकि लोगों का मूर्तियों के प्रति आकर्षण बढ़े। इन मन्दिरों में प्रायः पुरोहित ही पूजा का कार्य करते थे। इससे उन्हें काफी दान दक्षिणा प्राप्त होती थी।

पुरोहित का अधिकार संभवतः धार्मिक कार्यों के सम्पन्न करने तक सीमित रह गया प्रतीत होता है, क्योंकि प्रशासनिक क्षेत्र में उसके संबंध में कोई उल्लेख नहीं मिलता। ब्राह्मण, मंत्रियों की मन्त्रणा अब अधिक आवश्यक नहीं रह गयी थी। राजा द्वारा आदेश दिये जाते थे और उनका पालन प्रत्येक कर्मचारी के लिए अनिवार्य था। फिर भी कहना उचित है कि पुरोहितों का आश्रयदाता राजा ही था। राजाओं के कार्यों को सम्पन्न कराने के लिए पुरोहित नियुक्त होता था। यह नियुक्ति योग्यता के आधार पर न होकर वंशानुगत हो गई थी। राजा की आज्ञा से वह दूत का कार्य भी करता था। मालवा के परमार वंश की भांति ही गुजरात के चालुक्य वंश की उपलब्धियाँ भी महत्वपूर्ण थी। शिलालेखों से ज्ञात होता है कि चालुक्य वंश की उत्पत्ति चन्द्रवंश से हुई थी[43]। इसकी पुष्टि वीर नरायण के मंदिर अभिलेख कुलो तुंग के ताम्रपत्र तथा चोलदेव के वि० सं० 1200 (1143 ई०)[44] के लेखों से भी होती है, जिनसे यह ज्ञात होता है कि चालुक्य चन्द्रवंशी थे। विक्रमांकदेव चरितम् के लेखक विह्लण ने इस वंश को ब्रह्मा के चुलुक से उत्पन्न माना है। प्रारम्भ में लगभग 745 ई० में अणहिज पाटर्न (अन्हिलवाड़) के शासक वनराज ने इस राज्य की स्थापना की थी। यह स्थान गुजरात में अब पत्तन कहलाता है। कालान्तर में चालुक्य या सोलंकी वंश के मूलराज ने लगभग 942 ई० में इस राज्य पर अधिकार कर चालुक्य वंश की स्थापना की तथा चतुर्दिक विजय कर कच्छ काठियावाड़ लाट तथा अजमेर पर अधिकार कर अपने राज्य का विस्तार किया। उसने कई मंदिरों का निर्माण किया तथा विद्वानों का भी वह आश्रयदाता था। इस वंश के अन्य शासकों में चामुण्डराज, दुर्लभराज, भीम कर्ण तथा सिद्धराज जयसिंह तथा कुमारपाल उल्लेखनीय हैं। जयसिंह तथा कुमार पाल ने चतुर्दिक विजय कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। तथा मुस्लिम आक्रमणकारियों से उसकी रक्षा करने में कुछ हद तक सफल रहे।

इस युग में ब्राह्मण एक वर्ग के रूप में स्थापित न होकर विभिन्न श्रेणियों में विभक्त था। द्वयाश्रय काव्य से पता चलता है कि कन्नौजिया, वड नागरा और सिहोरिया ब्राह्मण प्राचीन काल में कान्य कुंज, आन्नदपुरा और सिहोर से आये थे[45]। यें सब जातियाँ स्थानों के नाम पर प्रसिद्ध हुई थी। उनकी उत्पत्ति कब हुई यह कहना तो असंभव है, लेकिन इतना अवश्य है कि इस समय कुछ ब्राह्मण

अपने को अन्यों से श्रेष्ठ मानते थे। डा० दशरथ का मत है कि दक्षिण तथा उत्तर के ब्राह्मणों में अपने संस्कारों तथा परम्पराओं को श्रेष्ठ बताने हेतु स्पर्धा प्रारम्भ हो गई थी[46]। फिर भी इस युग में ब्राह्मण वर्णगत कर्तव्यों को पूरा करता था। शिलालेखों से विदित होता है कि ब्राह्मणों को विभिन्न पंच महायज्ञों के लिए दान–दक्षिणा दी जाती थी। यह इस तथ्य का प्रतीक है कि समाज में यज्ञ परम्परा अब भी प्रचलित थी तथा ब्राह्मण पौरोहित्य कर्म करते थे। पुरोहित धार्मिक कार्य सम्पन्न करने के साथ–साथ राजनीति में भी सक्रिय थे। केन्द्रिय अधिकारियों के रूप में महामहुमर्तिका नामक कर्मचारी का उल्लेख मिलता है जो राज ज्योतिषी था। निःसन्देह यह कर्मचारी पुरोहित का ही बदला स्वरूप प्रतीत होता है। स्थानीय स्वशासन में भी पुरोहित पंचमुख समिति का सदस्य था। चौलुक्य वंश में पुरोहित का सम्मान एक प्रशस्ति द्वारा सम्पुष्ट होता है जिसमें उल्लेख मिलता है कि राजा राष्ट्र की रक्षा पुरोहित के परामर्श से करते थे[47]। यद्यपि चालुक्य नरेश कुमार पाल ने जैन धर्म के विकास में अभूतपूर्व सहयोग दिया तथा इसे राजधर्म बना दिया किन्तु हिन्दू धर्म की सर्वथा उपेक्षा इस काल में नहीं हुई। शैव धर्म गुजरात का सबसे लोकप्रिय धर्म था। कुमार पाल को बीस से अधिक शिलालेखों में उमादित वरलब्ध शंकर का उपासक कहा गया है[48]। द्वयाश्रयकाव्य से विदित होता है कि सिद्धराज जयसिंह ने शैव धर्म की उन्नति में व्यापक सहयोग दिया। शैव धर्म के अतिरिंक्त वैष्णव धर्म भी गुजरात में प्रचलित था। जयसिंह तथा अन्य अधिकारियों ने विष्णु के मंदिरों का निर्माण कराया था। अन्य धर्मों में सूर्य तथा दुर्गा पूजा का भी व्यापक प्रचलन था। हेमचन्द्र के विवरण से विदित होता है कि दुर्गा पूजा के अवसर पर यज्ञ का आयोजन होता था तथा बलि दी जाती थी। अतः स्पष्ट है इस धार्मिक स्थिति में मंदिरों मेंउपासना तथा यज्ञीय कर्मकाण्ड में पुरोहित का महत्व पूर्ववत ही विद्यमान रहा होगा।

जिस समय उत्तर भारत में हर्ष वर्द्धन ने अपना साम्राज्य स्थापित किया उस समय छठी शताब्दी के मध्य दक्षिण भारत में बादामी चालुक्य, कांची के पल्लव तथा मथुरा के पाण्डय राजाओं ने अपनी–अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। इन राज्यों में सर्वोच्चता तथा राज्य विस्तार हेतु प्रायः संघर्ष होते रहते थे। लगभग 750 ई० में इस सत्ता संघर्ष में चालुक्यों का स्थान राष्ट्रकूटों तथा पल्लवों का स्थान चोल वंश ने ले लिया। बादामी के चालुक्य वंश में पुलकेशी द्वितीय प्रतापी शासक था और हर्ष का समकालीन था इन दोनों राज्यों का सीमा निध ारण नर्मदा नदी थी। पुलकेशी ने चतुर्दिक विजय प्राप्त कर अपने राज्य का विस्तार किया तथा अपने भाई विष्णु वर्धन को उत्तरी मराठा क्षेत्र तथा विशाखापट्टनम् से नैल्लोर के उत्तरी प्रदेश का राज्यपाल नियुक्त कर दिया। विष्णु वर्धन ने कालान्तर में स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली तथा वेंगी के चालुक्य वंश की

स्थापना की। इसके अतिरिक्त 750-1200 ई० के मध्य राष्ट्रकूट तथा चोल वंश की भी प्रबल सत्ता रही। राष्ट्रकूट शासकों ने लगभग 225 वर्ष शासन किया। इस वंश के शासकों में ध्रुव, गौविन्द तृतीय तथा इन्द्र तृतीय ने उत्तर भारत में भी महत्वपूर्ण विजयें प्राप्त की। राष्ट्रकूट राजाओं से चोल राजाओं का पारस्परिक संघर्ष चलता रहा और उन्होंने तुंगभद्रा नदी से दक्षिण के भारत पर एकछत्र राज्य स्थापित किया। इसके पश्चात चोल राजाओं का कल्याणी के चालुक्य राजाओं से संघर्ष प्रारम्भ हो गया। बारहवीं शता० के अन्त तक चोल चालुक्य जैसी महान शक्तियां निरंतर संघर्ष से थक चुकी थी और उनके अधीन छोटे–छोटे राज्यों यथा यादव, काकतीय, होयसल तथा पाण्ड्य अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न करने लगे। उपरोक्त राजवंशों ने जहां एक ओर सर्वोच्य सत्ता स्थापित करने की दृष्टि से निरंतर संघर्ष किया वहीं दूसरी ओर भारतीय संस्कृति की पूर्व परंपराओं को अक्षुण्य बनाये रखने में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया।

दक्षिणी भारत में तत्कालीन समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था पूर्णरूप से प्रचलित थी। वर्णो का विभाजन व्यवसाय के आधार पर भी मिलता है। साहित्य सृजन तथा शिक्षा को इन राजवंशों ने अत्यधिक प्रोत्साहन दिया। संस्कृत के विद्वान कवि भारवि चालुक्य नरेश विष्णु वर्धन के सभा पण्डित थे। पल्लव वंशीय नरेशों ने भी संस्कृत साहित्य को प्रोत्साहन दिया। उनके समय में कांची विद्या का केन्द्र बन गया था। संस्कृत का अध्ययन ब्राह्मण करते थे। शिक्षण संस्थाओं में वेद, वेदागों, मीमांसा न्याय, पुराण तथा धर्म शास्त्रों के अध्ययन की व्यवस्था थी। शिक्षा संस्थाओं को राजाओं द्वारा प्रचुर धन दान में दिया जाता था। दक्षिण भारत में शिक्षा के उच्च केन्द्र धटिका कहलाते थे। जो निःसन्देह ब्राह्मणों के संगठन थे। खुददिबा के अनुसार राष्ट्रकूटों के राज्यकाल में दक्षिण भारत के हिन्दू समाज में सात वर्ग थे यथा सत्क्षत्रिय, ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्व, शूद्र, चाण्डमल तथा लहूड़। सत्क्षत्रिय वर्ग के अन्तर्गत राजवंश से संबंधित लोग आते थे तथा ब्राह्मणों से भी श्रेष्ठ समझे जाते थे। ब्राह्मण अन्य वर्णों में श्रेष्ठ थे तथा यज्ञ करना यज्ञ कराना, शिक्षा दान तथा न्यायदान करना इनका प्रमुख कार्य था[10]। समाज में पुसंवन, सीमन्तोनयन, जातकर्म नामकरण, उपनयन विवाह आदि संस्कार उत्तर भारत में भी विद्यमान थे। सुदूर दक्षिणी राज्यों में भी इस अवधि में वर्ण व्यवस्था पूर्णरूप से स्थापित थी। ब्राह्मण दान से प्राप्त धन पर जीवन निर्वाह करते थे। तथा समाज में उनका बहुत आदर था। धार्मिक अनुष्ठानों को करने के अतिरिक्त अध्ययन–अध्यापन उनका प्रमुख कार्य था। अनेक विद्याओं में प्रवीण ब्राह्मण राजगुरू नियुक्त किये जाते थे। चोल शासन काल में ब्राह्मणों ने अपनी बस्तियां अलग बसानी प्रारम्भ कर दी थी। मंदिर केवल पूजा के स्थल ही न रह गये थे अपितु दक्षिण भारत के निवासियों के मंत्रणा स्थल एवं सभा स्थल

बन गये थे। राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक जीवन में भी इनका प्रमुख स्थान था। दक्षिण भारत में मंदिर उच्च शिक्षा साहित्यिक तथा संगीत गोष्ठियों एवं स्थानीय सार्वजनिक समस्याओं का निराकरण स्थल तथा मनोविनोद हेतु विभिन्न आयोजनों का केन्द्र बन गये थे। मंदिर से कुछ ही दूरी पर अनेक पुरोहित निवास करते थे। जिनका मंदिरों की दैनिक प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका रहती थी।

दक्षिण–भारतीय राजवंशों में धार्मिक सहिष्णुता की भावना देखने को मिलती है। यद्यपि बादामी के चालुक्य राजा ब्राह्मण धर्म के कट्टर अनुयायी थे फिर भी उनके शासनकाल में जैन तथा बौद्ध धर्म के अनुयायियों को पूर्ण स्वतंत्रता थी। ऐहोल प्रशस्ति का लेखक रविकीर्ति जैन था, किन्तु उसे चालुक्य राजा पुलकेशी द्वितीय का संरक्षण प्राप्त था। हेनसांग के अनुसार चालुक्य वंश के राज्य में अनेक बौद्ध स्तूप तथा विहार विद्यमान थे[50]। परन्तु उपरोक्त तथ्य अपवाद ही प्रतीत होते हैं। वस्तुतः दक्षिण भारत में वैदिक धर्म अत्यन्त लोकप्रिय था। प्रारम्भिक पल्लव राजा वैदिक धर्म के अनुयायी थे। स्कंद वर्ण ने कई वैदिक यज्ञ कराये। इस समय हिन्दू समाज में स्मृतियों और पुराणों द्वारा प्रतिपादित हिन्दू धर्म का बहुत प्रचार हुआ। परन्तु स्मृतिकारों ने हिन्दू धर्म को इतना जटिल बना दिया था कि उसमें पूर्व की भांति सरलता नहीं रह गई थी। शंकराचार्य ने हिन्दू धर्म के दार्शनिक रूप का प्रतिपादन किया। इसका बौद्ध धर्म पर विपरीत प्रभाव पड़ा। उपस्थित देवों में शिव तथा विष्णु की प्रमुखता थी। वस्तुतः दक्षिण भारत के धार्मिक इतिहास में यह समय एक परिवर्तन का युग था। व्रतों का प्रचलन मंदिरों में देव–दासियों की प्रथा, स्मृति धर्म की जटिलता आदि कुछ नवीनतायें इस समय के धर्म में देखने को मिलती हैं। मुसलमानों के साथ भी धार्मिक सहिष्णुता का व्यवहार किया जाता था। रामानुज ने शंकर के मत का खण्डन करने के साथ–साथ मंदिरों की पूजा पद्धति में सुधार भी किये। मंदिरों में पुजारी ब्राह्मण ही होता था, जो दक्षिण भारत में भी पौरोहित्य कर्म की विद्यमानता का प्रतीक है।

दक्षिण भारतीय राजवंशों की राज्य व्यवस्था का विश्लेषण करने पर विदित होता है कि उत्तर भारत की भाँति ही राज्य का सर्वोच्च अधिकारी राजा ही था। राज्य के समस्त प्रशासनिक अधिकार उसमें निहीत थे। राजाओं का राज्याभिषेक धूम धाम से मनाया जाता था। इस अवसर पर राज्य के अधिकारी तथा सामंत उपस्थित रहते थे। राजकार्य का संपादन अनेक मंत्रियों के सहयोग से किया जाता था। मंत्रियों का सुयोग्य तथा गुणों से युक्त होना आवश्यक था। चोल शासकों ने राजा के दैवी स्वरूप को प्रोत्साहन दिया। राजा राजगुरू से सांसारिक तथा धर्म संबंधी विषयों में परामर्श लेता था। यह इस तथ्य का प्रतीक है कि दक्षिण भारत में भी पुरोहित का समाज में सम्मान के साथ–साथ प्रशासनिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण स्थान था।

नीतिशास्त्रों में प्रतिपादित पौरोहित्य सम्बन्धी विचार

नीति शब्द की उत्पत्ति "नी" धातु से हुई है। जिसका अर्थ है नेतृत्व करना। दूसरे शब्दों में नीति का शाब्दिक अर्थ मार्ग निर्देशन माना जा सकता है। इस प्रकार नीतिशास्त्र वह शास्त्र है जो मानव का जीवन में उचित मार्ग निर्देशन करे। संभवतः इसी दृष्टिकोण से भृर्तहरि ने अपने ग्रन्थ का नाम नीतिशतक रखा। परन्तु कालान्तर में नीतिशास्त्र का अभिप्राय प्रशासन विद्या अर्थात् राजनीति से लगाया जाने लगा। कामंदक तथा शुक्र ने अपने राजनीति विषयक ग्रन्थों का नाम क्रमशः कामंदक नीतिसार तथा शुक्रनीतिसार रखा। शुक्र ने नीतिशास्त्र का उद्देश्य समाज के कल्याण के साथ–साथ धर्म अर्थ का प्रमुख आधार बताते हुए मोक्ष प्राप्ति का साधन भी बताया है।

सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृनीति शास्त्रकम।
धर्मार्थकाममूलंहि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः। शुक्रनीति 1/5

इस प्रकार शुक्रनीतिशास्त्र को समाज के कल्याण का साधन मानते है। उनका मत था कि नीति रहित राज्य सुराख वाली नौका के समान होता है। नीतिशास्त्रों का विषय यद्यपि राजनीति परक है किन्तु इनमें मानव के उचित मार्ग निर्देशन हेतु आचरण संबंधी नियमों का भी विस्तृत प्रतिपादन मिलता है ताकि सामाजिक व्यवस्था कायम रहे। इस प्रकार नीतिशास्त्र शासन शस्त्र होने के साथ–साथ आचार–शास्त्र भी थे ताकि समाज का सर्वांगीण विकास हो सके। कांमदक तथा शुक्रनीतिसार के अतिरिक्त पूर्व–मध्यकाल में अनेक नीतिशास्त्रों की भी रचना हुई जिनमें सोमदेव का नीतिवाक्यमृतम् हेमचन्द्र का लध्वरः नीति तथा लक्ष्मीधर का राजनीति कल्पतरू नामक ग्रन्थ भी उल्लेखनीय है। नीतिशास्त्रों से तत्कालीन राजनीतिक धार्मिक तथा सामाजिक दशा पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। अतः पूर्वमध्यकाल में पुरोहित की स्थिति के विषय के सन्दर्भ में इन ग्रन्थों का विश्लेषण आवश्यक प्रतीत होता है।

नीति शास्त्रों में कामंदकीय नीतिसार की महत्वपूर्ण स्थिति है। यद्यपि इस ग्रन्थ की गणना नीतिशास्त्रों में की जाती है परन्तु यह कौटिल्य के अर्थशास्त्र का समावेश प्रतीत होता है। लेखक ने स्वयं ग्रन्थ की प्रस्तावना में विष्णु, गुप्त (कौटिल्य) के वैदिक ज्ञान तथा अर्थशास्त्र के सागर से नीतिशास्त्र के अमृत को निकालने की ऊँची प्रशंसा की है। कामंदक ने राजा तथा राज्य से संबंधित विषयों का प्रतिपादन करने के साथ–साथ सामाजिक व्यवस्था के संबंध में भी बहुमूल्य विचारों की विवेचना की है। इस ग्रन्थ के रचनाकाल के विषय में अत्यन्त मतभेद है किन्तु सामान्यतः इसका काल लगभग 8वीं श० ई० माना जाता है[51]।

कामदंक ने राज्य को राजा का सर्वोपरि स्थान बताते हुए कहा है कि राजा स्वयं तथा प्रजा के लिए त्रिवर्ग यथा धर्म, अर्थ काम की प्राप्ति का साधन है। जो राजां धार्मिक होता है तथा धर्मानुसार प्रजा का पुत्रवत पालन करते हैं।

प्रजा भी उसका प्रजापति के समान आदर करती है[52]। राजा को सदैव वर्णाश्रम धर्म का पालन करना चाहिए। जो राजा चारों वर्णों तथा आश्रमों को प्रतिष्ठित करता है। उसी राजा का त्रिवर्ग वृद्धि को प्राप्त होता है[53]। इस प्रकार कामंदक ने प्रजा का सब प्रकार से हित करना तथा उसे धर्म अर्थ व काम की प्राप्ति में सहयोग प्रदान करना राजा का प्रमुख उद्देश्य बताया है। संभवतः इसी संदर्भ को दृष्टिगत रखते हुए उन्होंने राजा को पुरोहित, मन्त्री, सेनापति आदि की नियुक्ति सोच समझ कर करने का निर्देश दिया है।

प्रशासनिक कार्यों में मंत्रियों की आवश्यकता पर बल देते हुए कामदंक का कथन है कि अमात्य तथा युवराज राजा की भुजायें है तथा मंत्री नेत्र हैं। इनमें से किसी अंग के भी विकारग्रस्त्त होने पर संतुलन बिगड़ जाता है[54]। अतः राजा के लिए अमात्य तथा मंत्रियों का होना आवश्यक है। किन्तु साथ ही यह भी कहा है कि दुष्टात्मा मंत्री राजा का भक्षण करते हैं। अतः कुलीन पवित्र, शूर, शास्त्र सम्पन्न तथा दण्डनीति के ज्ञाता को ही मंत्री पद पर नियुक्त करना चाहिए[55]। कामदंक का विचार था कि मंत्री को चाहिए कि वह जैसे भी संभव हो राजा को बुद्धि तथा उद्योग से जागरूक रखे। राजा को भी गुरूजन तथा मंत्रियों के बचनों का पालन करते हुए प्रशासनिक कार्यों में उनसे परामर्श लेना चाहिए। अहंकारी तथा अन्याय में प्रवृत्त राजा के मंत्री निंदा के पात्र होते हैं। कामदंक ने पुरोहित के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। पुरोहित की योग्यता के बारे में कामदंक का कथन है कि राजा का पुरोहित त्रयी विद्या और दण्ड नीति में कुशल होना चाहिए। वह शांति की पुष्टि करने वाले कर्म अथर्ववेद के अनुसार सम्पन्न करने वाला होना चाहिए[56]। कामदंक ने धर्म के पालन तथा प्रचार के लिए राजा को अपने पुरोहित के परामर्श से नीति निर्धारित करने का निर्देश दिया है। सुखीं व समृद्ध बनाने के उद्देश्य से पुरोहित द्वारा शान्तियज्ञ सम्पन्न कराना चाहिए ऐसी धारणा थी कि पुरोहित में वह शक्ति होती है, जिससे वह अनिष्टकारक शक्तियों को अपने कर्म–काण्ड द्वारा शान्त कर सकता था। पुरोहित मंत्रानुसार धार्मिक व्याकरण अनुष्ठान सम्पन्न करने में कुशल, जितेन्द्रिय तथा क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणों से रहित होना चाहिए, ऐसा कामंदक का विचार था। दूसरे शब्दों में त्रयी विद्या में पारंगत यथा विधि निष्ठात होने पर ही वह दोनों लोकों का कल्याण कर सकता है।

पुरोहित मंत्री परिषद का महत्वपूर्ण सदस्य था। कामन्दक ने अमात्यों में मंत्री व पुरोहित का उल्लेख किया है। उसका कथन है कि राजा मन्त्री अमात्य युवराज और पुरोहित का भेद यत्नपूर्वक करें क्योंकि ये राज्य के मुख्य अंग होते हैं[57]। मंत्रियों की योग्यता पर बल प्रदान करते हुए कहा गया है कि बुद्धिमानों के लिए कोई वस्तु असाध्य नहीं होती। जिस समस्या का समाधान विद्वानों की सभा में किया जाता है उनका तिरस्कार नहीं करना चाहिए। राज्य का कार्य मंत्र के

ज्ञाता मंत्रियों के परामर्श द्वारा ही सम्पन्न कराना उचित है। आरम्भ किये जाने वाले कार्यों का अनुष्ठान करने से पूर्व उस पर पंडितों द्वारा भलीभाति विचार करने के पश्चात् ही सम्पन्न किया जाता था ऐसा करने से मन मेंप्रसन्नता, श्रद्धा, साधन में चतुराई, सत्व, पराक्रम अधिकाई तथा सम्पत्ति का आगमन होता है। मंत्रियों की मन्त्रणा के अनुसार निर्णय, जिनमें पुरोहित भी सम्मिलित था श्रेयस्कर माने जाते थे।

कामन्दकीय नीति सार में बताया गया है कि राजा को अपने शासन का संचालन किन परिस्थितियों में किस प्रकार करना चाहिए। इसमें पुरोहित का कार्य धर्म का प्रचार करने से युद्ध तक विस्तृत था। शास्त्रविद् होने के साथ ही वह युद्ध कलाओं में भी निपुण होता था। अपने द्वारा किये गये शान्ति अनुष्ठानों से वह अग्नि, जल, व्याधि दुर्भिक्ष और मृत्यु इन पांचों देवों को शान्त कर सकता था। यह पुरोहित का शास्त्र विहित कर्म था। युद्ध की स्थिति में यद्यपि सैन्य बल का संचालन सेनापति ही करता था, लेकिन राजा की रक्षा का भार पुरोहित के मंत्रानुसार धार्मिक अनुष्ठानों पर निर्भर था। इस प्रकार पुरोहित रक्षा व्यवस्था का एक प्रमुख अंग भी था।

कामंदकीय नीतिसार में धर्म की श्रेष्ठता तथा वर्ण व्यवस्था पर भी प्रकाश डाला गया है। समाज में ब्राह्मणों का आदर होना चाहिए। ब्राह्मणों के अतिरिक्त क्षत्रिय तथा वैश्प भी द्विज थे। शूद्रों का कार्य सेवा करना था। ब्राह्मणों के पुण्यवचन, जो वेदानुकूल होते थे, उनका शब्द घोष नृत्यगीत के समान तथा निर्भयता, महाउत्साह वर्धक विजय की इच्छावाला होता है[58]। ब्राह्मण की वाणी देव–वाणी तथा वेदानुकूल थी। उनके द्वारा किया गया कार्य शास्त्रानुकूल था। समाज में इनके द्वारा शुभ तथा अशुभ कार्यों का विचार किया जाता था। जिससे व्यक्ति अपना कर्म शुभ मुहूर्त में प्रारम्भ कर सके। कामंदक के अनुसार ब्राह्मण पूजनीय था।उनकी पूजा अर्थात आदर होता था। ब्राह्मणों के तन्त्र–मन्त्रों का प्रभाव सामान्य जनता से लेकर राज्य की सेना तक स्वीकार किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों के कर्म–काण्ड में पूजापाठ के साथ अंध–विश्वास का प्रचार भी प्रतिष्ठित हो चुका था।

समाज में ब्राह्मण का आदर उसकी जाति मात्र से ही था। कामन्दकीय नीतिसार में उल्लेख है कि जातिमात्र से ही ब्राह्मण, धर्मात्मा और धर्म की उन्नति करने वाला था। उसके लिए कभी भी मृत्युदण्ड का विधान न किया जाये[59]। ब्राह्मण को मृत्यु दण्ड न दिये जाने के विधान का अभिप्राय था कि ब्राह्मण ही धर्म विद् तथा धर्म का प्रचार करने वाला है। उससे ही धर्म की रक्षा संभव है। ब्राह्मण वंश में जन्म लेने मात्र से ही उसे विशेषाधिकार प्राप्त हो जाते थे। जिन्हें प्राप्त करने में प्राचीन काल में बड़ी प्रतिस्पर्धा थी।

प्राचीन काल में पुरोहित ही आचार्य होते थे। लेकिन कामंदक के अनुसार

कुल, शील दया, दान, धर्म, सत्य, कृतज्ञता, अद्रोह ये जिनमें विद्यमान हों, वही आचार्य होता था[60]। ब्राह्मणों के कृत्यों में पढ़ना–पढ़ाना, यज्ञ करना–कराना, दान लेना तथा दान देना ये छः थे। इस ग्रन्थ के अनुसार ब्राह्मणों को उसके कार्यों के कारण श्रेष्ठता प्रदान की गयी थी, जिससे समाज में शास्त्रानुसार शिक्षा का प्रचार एवं प्रसार हो सके। शिक्षा के स्वरूप का आदर्श रूप प्रकट करने के लिए आचार्य के गुणों का भी वर्णन किया गया। इस प्रकार सभी ब्राह्मण आचार्य पदके अधिकारी नहीं रहे होंगे।

इस नीति ग्रन्थ में धर्म पर अधिक बल दिया गया है। राज्य का संरक्षण राजा का मुख्य धर्म रहा किन्तु धार्मिक कार्यों की उपेक्षा न की गयी। राजा प्राचीन परंपरा के अनुसार दान देते थे। जिन दानों का कामंदक ने वर्णन किया, उनमें पुरस्कार अधिक हैं। जब विजय प्राप्त होती थी तो राज्य की ओर जिस व्यक्ति या वर्ग के द्वारा विजय प्राप्त की जाती थी, उसे दान स्वरूप उपहार दिये जाते थे। ऐसा भी उल्लेख प्राप्त होता है कि सत्पुरूषों द्वारा निन्दित अपात्र को राजा कभी भी दान न करे। कुलीन विद्या से युक्त चरित्रवान व्यक्ति को ही दान प्राप्त होना चाहिए। इस दृष्टि से ब्राह्मण ही दान के प्रमुख अधिकारी रहे होंगे। यह आवश्यक नहीं था।

धर्म समुन्नत करने के लिए राजा तथा प्रजा को संलग्न रहना चाहिए। धार्मिक कार्य सम्पन्न करने लिए यदि राज्य का कोष खाली हो जाये तो क्षीण कोष भी शोभायुक्त है। पात्रों को दान देने में तथा धर्म उन्नति के लिए होने वाले व्ययों में यदि राज कोष भी खाली हो जाता है तो वह उसकी गरिमा है। ब्राह्मण भूमि पर देवता था। उसकी निन्दा करने से देव तथा धर्म दोनों ही नष्ट होते हैं। इसलिए कामंदक का मत था कि देवों का आदर करने के निमित्त ब्राह्मण को प्रसन्न रखना आवश्यक है। पुरोहित को मन्त्री श्रेष्ठ कहा गया है तथा राजा को आदेश दिया गया कि वह शौचादि से निवृत्त होकर स्नान आदि करके इष्ट देव का पूजन करने के पश्चात ही आभूषण धारण करे[61]।

इस प्रकार कामंदक ने धार्मिक कृत्यों के साथ–साथ प्रशासनिक क्षेत्र में भी पुरोहित की महत्ता एवं उपयोगिता स्वीकार की। उसे धर्म का रक्षक माना है। यदि राजा धर्मानुकूल आचरण नहीं करता तो वह विनाश को प्राप्त होता है इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए कामन्दक ने राजाओं के कृत्य, राज कुमारों के कृत्यों, राजा के प्रजा सम्बन्ध, सेना व्यूह रचना आदि पर गहन विचार करने के साथ–साथ पुरोहित की अनिवार्यता को भी प्रतिपादित किया है।

कामंदकीय नीतिसार के समान ही शुक्रनीतिसार भी एक अद्वितीय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के रचनाकाल के विषय में भी विद्वानों में अत्यन्त मतभेद है फिर भी सामान्यतः इसे 11वीं श० का स्वीकार किया जाता है किन्तु इसमें कुछ अंश 14वीं श० तक भी जुड़ते चले गये। कामंदक ने जहां अपना ग्रन्थ मूलत

शासनकला में राजा की शिक्षा हेतु लिखा वहीं शुक्र ने अपने ग्रन्थ में शासन कला के साथ–साथ सदाचरण तथा सम्पूर्ण नैतिकता का प्रतिपादन किया है। यह ग्रन्थ सबके हित के लिए लिखा गया जिसका प्रमुख उद्देश्य यह था कि समाज में अनैतिकता न बढ़े, धर्म की स्थापना हो, राजा धर्मानुकूल आचरण करते हुए देश की रक्षा करें तथा प्रजा सुखी व समृद्ध हो।

प्रारम्भ से ही धर्म का सम्बन्ध मुख्यतया पुरोहितों से रहा है। राजा का आश्रय पुरोहित तथा धर्म दोनों के लिए महत्व पूर्ण रहा था। पुरोहित धार्मिक तन्त्र से सम्बन्धित होने के कारण प्राचीन काल से ही "राज धर्म" में श्रेष्ठ एवं पवित्र माना गया। इस महत्व के कारण ब्राह्मणों ने समाज तथा शासन दोनों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, और समाज का नेतृत्व करते रहे। परन्तु धन और पद के कारण कुछ उच्शृंखल हो जाने के कारण उनके इस पद का महत्व गिरा। पुरोहित की आवश्यकता पर बल देते हुए शुक्र ने लिखा कि राजा की 10 प्रकृतियां में पुरोहित का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। वस्तुतः शुक्र के काल तक संभवतः मंत्रियों की संख्या निश्चित हो चुकी थी। इसीलिए उन्होंने आठ मंत्रियों का उल्लेख किया है, जिन्हें राजा की प्रकृतियां भी कहा है। इसके अतिरिक्त दो अन्य प्रकृतियां भी थी यथा–पुरोहित तथा दूत। पुरोहित को शुक्र ने आठ मंत्रियों से ऊपर स्थान दिया है। इस प्रकार पुरोहित का अनुयायी प्रतिनिधि तत्पश्चात क्रमशः प्रधान, सचिव, मन्त्री, प्राडविवाक, पण्डित, सुमंत्र तथा अमात्य होते थे। इनके पश्चात दूत का स्थान था। राजकीय कार्यों के संचालन में इनका सहयोग महत्वपूर्ण था।

शुक्राचार्य ने पुरोहित की महत्ता इसलिए भी अधिक स्वीकार की होगी क्योंकि यह राजा का धर्म गुरू भी था। शासन व्यवस्था धर्मानुसार होने से सामान्य जनता को सुखद राज्य की अनुभूति रही होगी। जिसमें राजा तथा प्रजा दोनों का कल्याण निहित है। संभवतः इन्हीं तथ्यों के आधार पर पुरोहित को सर्वश्रेष्ठ बताते हुए शुक्र ने उसे राजा और राष्ट्र दोनों का रक्षक बताया है[62]। धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने के कारण पुरोहित सामान्यतः जन–प्रतिनिधित्व करता था। वह कर्म काण्ड का विशेषज्ञ भी था। तथा उसके प्रकोप के डर से राजा भी धर्मानुकूल आचरण करने का प्रयास करते थे।

शुक्र ने पुरोहित की योग्यता पर विशेष बल प्रदान किया है। पुरोहित की नियुक्ति उसके गुणों के आधार पर होनी चाहिए। उसका मन्त्रों के अनुष्ठान द्वारा कर्मकाण्ड करने में कुशल त्रयी विद्या का मर्मज्ञ, कार्यानुष्ठान में चतुर, जितेन्द्रीय, क्रोध पर विजय प्राप्त करने वाला, लोभ तथा मोह से रहित वेदांगो (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द और ज्योतिष) का ज्ञाता, सांगोपांग धनुर्वेद का मर्मज्ञ, अर्थ और धर्म का अध्ययन करने वाला, राजा को धर्म और नीति में संचालित करने वाला नीतिशास्त्र विशेषज्ञ, शास्त्रास्त्र संचालन की कला में निपुण तथा व्यूह रचना में दक्ष होना चाहिएं। ऐसा पुरोहित ही आचार्य हो सकता है, जो शाप तथा अनुग्रह (वर देने) दोनों में समर्थ हो।

यदि गुण सम्पन्न व्यक्ति को राजा का पुरोहित न बनाया जाये तो राजा की मन्त्रणा में सम्यक विचार–विमर्श स्थापित न हो सकेगा। इससे राज्य निश्चय ही विनाश को प्राप्त हो जायेगा। जब राज्य में सर्वगुण सम्पन्न पुरोहित होगा तो राजा उससे भयभीत रहेगा तथा वह राज्य के अहित कार्यों में अग्रसर नहीं होगा। राज्य की समृद्धि होगी। इसलिए नीति शास्त्र में निपुण पुरोहित की ही नियुक्ति होनी चाहिए तथा वही आचार्य बनने योग्य है[63]। धार्मिक कार्यों को सम्पन्न कराने के लिए पुरोहित का योग्य होना अत्यन्त आवश्यक था। सादा जीवन रखने वाले वेद शास्त्र के ज्ञाता धर्म के आचरण में चतुर देवाराधना में संलग्न स्वयं किसी वस्तु की इच्छा न रखने वाले ऐसे ही विद्वान ब्राह्मण को देव पूजा का अध्यक्ष बनाना चाहिए[64]। इस प्रकार गुणवान धर्मशास्त्र मर्मज्ञ विद्वान, ब्राह्मण ही पूजा करने अथवा कर्मकाण्ड सम्पन्न करने का अधिकारी था। जन्म से ब्राह्मण होने पर वह ब्राह्मण धार्मिक कार्यों के सम्पादन का प्रमुख नीति शास्त्र के अनुसार उचित न था।

पण्डित अथवा पुरोहित को सामान्य प्रजा के कार्यों की समीक्षा करनी चाहिए कि वह जिस धर्म (कर्तव्य) का पालन करें। उसको जानना चाहिए कि कहीं शास्त्रों में निर्दिष्ट धर्म की अवहेलना तो न की जा रही है और धर्म–शास्त्र के प्रतिकूल आचरण तो नहीं हो रहा हैं? ऐसी स्थिति होने पर वह राजा को राष्ट्र की स्थिति स्पष्ट करे। राज्य में नैतिक तथा धार्मिक परम्पराओं की देख–रेख तथा पालन करना उसका उत्तरदायित्व था। इन कार्यों के योग्य ब्राह्मण ही इस विभाग का मन्त्री या अध्यक्ष हो सकता था। शुक्रनीति के अनुसार जो अधिकारी जिस प्रकार के कार्य करने में कुशल हो, उन्हें उनकी योग्यतानुसार विभिन्न विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया जाना चाहिए।

शुक्र के अनुसार विभिन्न विभागों का संचालन विभिन्न अध्यक्ष करते थे। इनमें दान एवं मन्दिरों का कार्य पुरोहित के आधीन था। शुक्र ने दान के योग्य पात्र के गुण भी प्रतिपादित किये हैं। राजा को निर्देश था कि वह उस व्यक्ति को दान दे जो तपस्वी वेद स्मृतियों का ज्ञाता, पौराणिक (इतिहासज्ञ) विद्वान, शास्त्रज्ञ, देवज्ञ ज्योतिषी, मन्त्र वेत्ता, वैद्य, कर्म काण्डी, तान्त्रिक तथा अन्य विषयों का ज्ञाता अर्थात विद्वान हो। उनको दान तथा मान से सम्मानित किया जाना चाहिए। जो राजा ऐसा नहीं करता वह अपयश को प्राप्त होता है[65]।

देवाध्यक्ष के रूप में किस व्यक्ति की नियुक्ति की जाये वह अपने धर्म में चतुर हो तथा देवताओं का आह्वान करने में प्रवीण होना चाहिए। ऐसा शुक्र का मत था। वह धार्मिक कृत्य किसी लोभ वश सम्पन्न न करे। जिसका मन पवित्र हो, ऐसे विद्वान पुरूष जो याचकों को कभी विमुख नहीं करते स्वयं भी धन का संग्रह नहीं करते दानशील, निर्लोभी, दूसरे के गुणों को जानने वाले, आलस्य रहित, दयालु मधुर बोलने वाला दान पात्रों को पहचानने वाला, विनम्र स्वभाव वाला हो इन गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को दानाध्यक्ष के रूप में दान देने का

कार्यभार सौंप देना चाहिए[66]। इससे विदित होता है कि ब्राह्मणों को दान देने के सम्बन्ध में राज्य में अलग ही कोष रहता था, जिसकी अध्यक्षता दानाध्यक्ष करता था। इसमें ईमानदार तथा चरित्रवान विद्वान पुरोहित को ही रखा जाता था। इसमें ईमानदार विद्वानों की भावनाओं का सम्मान करने के साथ–साथ उन्हें प्रभूत दान–दक्षिणायें प्राप्त होती थी, जिसमें आभूषण तथा वस्त्रों के अतिरिक्त भूमि भी होती थी।

राजा की जिन दस प्रकृतियों की गणना की गयी है, उनमें सभी विद्वान ब्राह्मण होने चाहिए। पुरोहित का आदर तथा सत्कार सामान्य जनता और शासक दोनों में था। राज सभा में पुरोहित उचित स्थान प्राप्त करता था। शुक्राचार्य का मत है कि जब पुरोहित सभा में प्रविष्ट हो तो उसके सम्मान में राजा को अपना आसन छोड़ कर खड़ा होना चाहिए[67]। शुक्र द्वारा प्रतिपादित मंत्रणा प्रणाली का निरूपण करने पर विदित होता है कि पुरोहित की इसमें महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। राज्य के विभिन्न अध्यक्षों, सामान्तों को जो कार्य करने का निर्देश दिया जाता था उसे आज्ञा पात्र कहा जाता था किन्तु ऋत्विक, पुरोहित तथा आचार्य को जो कार्य करने की प्रेरणा दी जाती थी वह प्रज्ञादान पत्र कहलाता था[68]। इससे स्पष्ट है कि राज्य में विद्वान पुरूषों तथा पुरोहित का इतना अधिक सम्मान था कि उन्हें आदेश नहीं दिया जा सकता था। प्रत्येक विभागसे संबधित विचारणीय विषय संबधित विभागाध्यक्ष के माध्यम से राजा के सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत होता था। शुक्र का मत है किं राजा को विभिन्न मंत्रियों के युक्ति सहित लेख प्राप्त कर बहुमत के आधार पर निर्णय करंना चाहिए[69]। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि लेख आमात्य तथा सुमंत्र द्वारा आख्या प्रस्तुत करने, प्रतिनिधि द्वारा उसको सत्यापित करने, युवराज द्वारा संस्तुति किये जाने के पश्चात पुरोहित्त द्वारा अनुमोदित होने पर ही राजा द्वारा स्वीकार किया जाता था। यह इस बात का प्रमाण है कि प्रशासकीय कार्यों में भी पुरोहित की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी तथा राजा उसके परामर्श का स्वागत करता था। डा० जायसवाल का कथन उल्लेखनीय है कि पुरोहित द्वारा अनुमोदित लेख राजा के हस्ताक्षर के पश्चात आदेश अथवा आज्ञा पत्र होता था तथा संवैधानिक दृष्टि से वह पत्र ही राजा होता था। न कि स्वयं राजा[70]। न्यायिक प्रक्रिया में भी शुक्र ने राजा को निर्देश दिया है कि प्राड्विवाक अमात्य ब्राह्मण एवं पुरोहित के सहित निश्चल बुद्धि से क्रोध लोभ से रहित होकर मुकदमें की सुनवाई करे तथा निर्णय दे।

पुरोहित राजा का मन्त्री होने के साथ–साथ धर्माध्यक्ष और गुरू भी होता था। पुरोहित का यह मान सम्मान उसके गुणों के कारण ही संभव था। इसी कारण पुरोहित को यह अधिकार भी दिया गया था यदि वह वर्तमान राजा को अयोग्य समझता है तो प्रकृतियों (अमात्यादि) की सम्मति प्राप्त करके राष्ट्र की रक्षा के लिए उस राजा के स्थान पर उसी राजा के वंश में उत्पन्न राज गुणों

से युक्त किसी अधिकारी (हकदार) को सिंहासन पर स्थित करें[71]। इससे स्पष्ट है कि राजा की नियुक्त में भी इस समय पुरोहित की प्रमुख भूमिका थी। राज्याभिषेक के अवसर पर नियुक्ति की घोषणा तथा विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों का सम्पादन पुरोहित ही करता था। शुक्र ने वर्ण–व्यवस्था को पूर्व आचार्यों की भाँति ही स्वीकार किया है किन्तु वर्ण विभाजन का आधार उन्होंने जाति की अपेक्षा गुण एवं कर्म को माना है[72]। यह दृष्टिकोण उस समय प्रचलित कट्टर पंथी मत से सर्वथा भिन्न होने के साथ ही शुक्र के प्रगतिशील विचारों का द्योतक भी है। इस प्रकार शुक्र के अनुसार ज्ञान, कर्म, देवता आदि की उपासना में तत्पर गुणों से युक्त ब्राह्मण था। जिन्होंने अपना आचरण त्याग दिया है तथा दूसरे का उत्पीड़न करते हैं वे मलेच्छ है। ब्राह्मणों के लिए चारों आश्रमों के विधिवत पालन पर भी शुक्र ने बल दिया। शुक्राचार्य ने ब्राह्मणों को षट्कर्मो का पालन करने वाले कहा है। अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ–याजन दान और प्रतिग्रय इस प्रकार का ब्राह्मण चारों वर्णो में श्रेष्ठ है। उसके समक्ष क्षत्रियों का बल तेजहीन हो जाता है। ब्राह्मण को अपने धर्म में स्थित देखकर क्षत्रिय आदि उससे भयभीत हो जाते हैं[73]। ब्राह्मण को भी अपने धर्म का भलीभाँति आचारण करना चाहिए। यदि ब्राह्मण अपने धर्म (कर्तव्यों) से विमुख हो जाता है तो समाज में आदर पाने का पात्र नहीं है। इस प्रकार समाज में सर्वोच्च स्थिति होते हुए भी ब्राह्मण से धर्मानुसार कर्तव्यों का पालन अपेक्षित था।

शुक्राचार्य के समय में जिन देवी–देवताओं की मूर्तियां बनती थी। उनकी संख्या भी बढती गयी। इनकी रक्षा, पूजा, अर्चना हेतु मन्दिरों का निर्माण हुआ। धार्मिकजन अपने कर्मकाण्ड की इति श्री इनके माध्यम से करने लगे। पूजा पाठ, मन्दिरों का निर्माण तथा मूर्तियों की निर्माण शैली का हिन्दू संस्कृति के साथ गहरा संबंध रहा है। समाज का एक बड़ा वर्ग इन धार्मिक कार्यों में संलग्न था। मंदिरों में भी मूर्तियों की पूजा करना तथा कराना पुरोहितों का प्रमुख उत्तरदायित्व था।

कामंदक नीतिसार तथा शुक्र नीति के अतिरिक्त इस श्रेणी के अन्य ग्रन्थों में सामदेव सूरी का नितिवाक्यमृतम् "हेमचंन्द्र का लघ्वरः नीति तथा लक्ष्मीधर का राजनीतिकल्प तरू उल्लेखनीय है। जिनसे तत्कालीन राजनैतिक तथा सामाजिक व धार्मिक स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। इनमें सोमदेव तथा हेमचन्द्र यद्यपि दोनों जैन धर्म अनुयायी थे। परन्तु उन्होंने कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा स्मृति परम्परा से राजनैतिक एवं सामाजिक विचारों का प्रतिपादन किया है। सोमदेव ने चार विद्याओं यथा आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति का ही प्रतिपादन करते हुए कहा कि आन्वीक्षिकी के अध्ययन से राजा मानसिक सतर्कता, नैतिक अनुशासन तथा व्यावहारिक कुशलता प्राप्त करता है। साथ ही त्रयी विद्या के अध्ययन से उसे विभिन्न वर्णो के कर्तव्यों तथा वैदिक यज्ञों का

ज्ञान प्राप्त होता है। सोमदेव ने श्रुति तथा स्मृति परंपरा को स्वीकार करते हुए वर्ण व्यवस्था की सामाजिक मान्यता को भी स्वीकार किया। राजा में विभिन्न देवताओं के अंश विद्यमान बताकर एक ओर जहाँ सोमदेव ने राजा को देवतुल्य बताया है, वहीं उसके गुणों, कर्तव्यों आदि के विषय में पूर्व आचार्यो के मत का ही समर्थन किया है। सोमदेव का कथन है कि जो राजा विद्वान, वृद्ध पुरूषों का सम्मान नही करता तथा स्वेच्छापूर्ण आचरण करता है वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। राज्य संचालन के लिए मंत्रियों की आवश्यकता पर बल प्रदान करते हुए सोमदेव का मत था कि राजा को सदमंत्रणा प्राप्त करने हेतु पाँच–सात विद्वान ब्राह्मण मंत्री नियुक्त करने चाहिए। मंत्रियों की योग्यतायें, परीक्षा विधियाँ मंत्र की गोपनीयता आदि की दृष्टि से कौटिल्य तथा मनु आदि के विचारों का ही प्रतिपादन किया है। वस्तुतः देखा जाय तो सोमदेव के विचार राजनीति तथा नैतिकता का मिश्रण है। जैन धर्मावलम्बी होते हुए भी सोमदेव ने अहिंसा पर बल न देकर राज्य प्रशासन की आवश्यकताओं पर बल दिया। हेमचन्द्र ने भी राजा के कर्तव्यों में प्रजा की रक्षा को प्रमुख स्थान दिया है। राजा के शिक्षण, देवत्व तथा सामाजिक व धार्मिक दशा के सम्बन्ध में हेमचन्द्र के विचार भी सोमदेव के समान ही है। लक्ष्मीधर भी कौटिल्य तथा मनु के विचारों से प्रभावित प्रतीत होते हैं। राज्य की संरचना, राजा तथा अन्य संदर्भो में इस काल में धर्म का महत्व सर्वोच्च था। इसीलिए लक्ष्मीधर ने भी राज्याभिषेक से सम्बन्धित अनुष्ठानों का विवरण देते हुए राज्य के कल्याण हेतु उत्सवों, पूजा के कृत्यों तथा विविध पद्धतियों का भी विवरण दिया है।

इस प्रकार पूर्वमध्यकालीन भारतीय इतिहास का विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है यह युग राजनीतिक दृष्टि से विश्रृंखलता का युग था। हर्ष वर्द्धन के पश्चात उत्तरी भारत में अनेक छोटे–छोटे राज्यों की सत्ता स्थापित हो गयी थी। इनमें निरंतर सत्ता संघर्ष चलता रहता था। अंततः धीर–धीरे ये समस्त राज्य मुस्लिम आक्रमणकारियों के आगे नतमस्तक होते चले गये। इसके पूर्व भी यूनानी पल्हव, शक, कुषाण आदि ने भारत पर आक्रमण किये थे। किन्तु भारतीयों ने अपने बाहुबल से उन्हें अपने वश में रखा। किन्तु मुस्लिम आक्रमणकारियों के आगे हिन्दू राज्य एक–एक करके धराशाही हो गये। इसके विभिन्न कारणों में एक प्रबल कारण था इस युग में सामंतवाद का विकास। यद्यपि यह प्रथा गुंप्तकाल में ही प्रारम्भ हो चुकी थी। किन्तु पूर्वमध्य युग में इसकी जड़े गहरी हो गई थी। छोटे–छोटे सामन्तों को उनकी सेवाओं के बदले भूमि दान में देदी जाती थी जो कालान्तर में केन्द्रीय शासन के निर्बल पड़ते ही स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर लेते थे। जनता में भी राष्ट्रीयता की अपेक्षा प्रादेशिक भावना उभरने लगी। जाति प्रथा की जटिलता भी इस युग के समाज के विकास में बाधक बनी। हिन्दू समाज ने विदेशियों से अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए अपने सामाजिक

नियम अत्यन्त कठोर बना लिए। प्रत्येक वर्ग में विभिन्न उपजातियां बन गई, जिससे समाज के टुकड़े–टुकड़े हो गये। एक समय शकों, कुषाणों तथा हूणों को अपने में आत्मसात कर लेने वाली संस्कृति अब इतनी कठोर हो गयी कि उसमें दूसरे धर्म के लोगों को एक सूत्र में बांधने की शक्ति न रही। खान–पान वैवाहिक सम्बन्ध आदि उप–जातियों तक ही सीमित रह गये थे। एक बार अपवित्र हुई वस्तु को पुनः शुद्ध करके स्वीकार नहीं की जा सकती थी। इस प्रकार इस युग में समाज का अत्यन्त संकीर्ण दृष्टिकोण हो गया था। धार्मिक क्षेत्र में भी अहिंसा तत्व का पुनरुत्थान हुआ। बौद्ध व जैनियों की भाँति वैष्णव मतावलम्बी भी अहिंसा प्रेमी हो गये। ब्राह्मण वर्ग भी इसका अपवाद नहीं रहा। धर्म में वाम मार्ग तथा तंत्रवाद ने अपना प्रमुख स्थान बना लिया। ब्राह्माडंबर के प्रवेश से धर्म का स्वरूप ही नष्ट हो गया। कालान्तर में मंदिरों में देवदासी रखना तथा मांस, मछली तथा शराब देव पूजा का आवश्यक अंग माना जाने लगा। समाज में नैतिक आदर्शों का पतन होने लगा। इस प्रकार हिन्दू समाज तथा धर्म की वह शक्ति इस काल में समाप्त हो गई थी जिसने एक समय उच्च पुरोहित प्रथा को जन्म दिया था।

किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इस युग में भारतीय समाज तथा धर्म पूर्णरूप से पतनोन्मुख था। इस काल के साहित्य के अनुशीलन से स्पष्ट है कि सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में सुधार एवं संगठन की भावना के भी दर्शन होते हैं। समाज वर्णाश्रम धर्म पर ही आधारित था। ब्राह्मण सर्वोच्च स्थिति में था तथा उसका प्रमुख कार्य अध्ययन अध्यापन तथा धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने के साथ–साथ प्रशासकीय कार्यो में राजा को परामर्श देना था। सामान्यः राजा पुरोहित की उपेक्षा करने का साहस नहीं कर सकता था। जिन हिन्दुओं को बलपूर्वक मुसलमान बनाया गया उन्हें शुद्ध करके पुनः हिन्दू बनाने का विधान देवल स्मृति में मिलता है। धर्म के क्षेत्र में कुमारिल ने मीमांसा तथा वैदिक कर्मकाण्ड का प्रबल समर्थन किया तथा अवैदिक मतों का खण्डन किया। इससे हिन्दू धर्म में एक नवीन शक्ति का संचार हुआ। कालान्तर में शंकराचार्य ने यद्यपि वैदिक कर्मकाण्ड को सम्मान दिया परन्तु अधिक महत्व प्रदान नहीं किया गया। उन्होंने उपनिषदों के दार्शनिक तथा बौद्ध धर्म की महायान शाखा के मतों में सुन्दर समन्वय स्थापित कर अद्वेत वेदान्त मत का प्रतिपादन किया। परिणामतः बौद्ध धर्म भारत में लुप्तप्राय हो गया। शंकर ने शैव, वैष्णव तथा शाक्त सम्प्रदायों की बुराइयों को दूर करके भक्ति मार्ग में नवीन शक्ति का संचार किया। जिससे हिन्दू धर्म इतना शक्तिशाली हो गया कि मुस्लिम धर्म के आक्रमणों का सामना कर सके। स्मृतिकारों तथा नीतिशास्त्रकारों ने विभिन्न ग्रन्थों की रचना करके सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति को ऊंचा उठाने में बहुमूल्य योगदान दिया। इस प्रकार यद्यपि यह युग राजनीतिक विशृंखलता का युग था फिर भी सामाजिक एवं

धार्मिक क्षेत्र में स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं आ पाया। समाज में वर्णाश्रम धर्म पूर्व की भांति विद्यमान था तथा ब्राह्मण की सर्वोच्च स्थिति पूर्ववत थी। मंदिरों में मूर्तिपूजा के बढ़ते प्रभाव से परिवारों के अतिरिक्त मंदिरों में भी पौरोहित्य कर्म की प्रतिष्ठा बढ़ी। राजकीय कार्यो में भी राजा पुरोहित को अत्यधिक सम्मान देता था तथा मंत्रिपरिषद में इसका एक महत्वपूर्ण स्थान था।

संदर्भ सूची

1. वासुदेव उपाध्याय – प्राचीन भारतीय अभिलेख पृ० 112
2. हर्ष चरित – पृ० 709
3. राधा कुमुद मुखर्जी – प्रा० भा० पृ० 123
4. उपरोक्त – पृ० 123-24
5. हर्ष चरित – सामन्त पारेश्च पुरोहित पृ० 552
6. डा० विमलचन्द पाण्डय – प्राचीन भारत का इतिहास पृ० 69
7. वाटर्स – जिल्द पृ० 140
8. राधा कुमुद मुखर्जी – प्रा० भा० पृ० 125
9. हर्ष चरित – चतुर्थ उच्छवास – पृ० 9
10. वाटर्स जिल्द पृ० 151
11. उपरोक्त पृ० 168
12. वाटर्स जिल्द पृ० 168
13. ज्वलन्मश्व शिखि सहस्त्र सहस्त्र दीप्यमादश दिगतं।
    – हर्ष चरित्र पृ० 147
14. डा० विमलचन्द पाण्डेय – प्राचीन भारत का इतिहास पृ० 71
15. आर० सी० मजूमदार (अनुवादक परमेश्वरी गुप्त)। –प्रा० भा० पृ० 218
16. राजवली पाण्डेय – प्रा० भा० पृ० 282 वाराणसी–1962
17. पं० भगवद्दत्त – भारत वर्ष का इतिहास प्रथम भाग, पृष्ठ 84
18. डा० राधा कुमुद मुखर्जी – प्राचीन भारत 123
19. एपिग्राफिका इण्डियवन का भाग 6 पृ० 143
20. वाटर्स जिल्द 2 पृ० 12
21. डा० सत्यकेतु–भारत का प्राचीन इतिहास पृ० 642
22. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार–भारत का प्राचीन इतिहास पृ० 630
23. इडियन एटिक्वेरी – 16 पृ० 177, राजशेखर–कर्पूर मंजरी पृ० 12, 13, 187
24. इलियट हिस्ट्री आफ इण्डिया – भाग पृ० 10

25. अलबरूनीज इण्डिया — भाग पृ० 120-21
26. इलियट — हिस्ट्री आफ इण्डिया 2 पृ० 34
27. डा० राजबली पाण्डेय — प्राचीन भारत पृ० 301
28. जनरल आफ इण्डियन हिस्ट्री 15 (1936) पृ० 24-25
29. ऐ० इण्डिया भाग 9 पृ० 14-15, 39
30. कृत्य कल्प तरू—लक्ष्मीधर (सम्पादित के० ए० स्वामी अयंगार) पृ० 22-24
31. इण्डियन हिस्ट्रोरिकल क्वाटर्ली — 1949, पृ० 37
32. इण्डियन एण्टीक्योरी — 18-पृ० 14-19
33. उपरोक्त श्लोक 3 पृ० 319-20
34. कमौली दानपत्र सं० वि० 1162, बसही दानपात्र वि० सं० 1161
35. हम्मीर महाकाव्य— 9,76
36. इण्डियन ऐटिक्वेरी भाग 37 पृ० 132
37. एपिग्राफिका इण्डिया — पृ० 126 इण्डियन ऐटिक्वेरी, 16 पृ० 204
38. उपरोक्त 20, पृ० 126-128
39. इपिग्राफिका इण्डिका पृ० 207
40. इण्डियन ऐटिक्वेरी — पृ० 236, 2-पृ० 180, 9 पृ० 200 तथा ओर्वन अकवरी (अंग्रेजी अनु०) एच० एच० अरंथ
41. नवसाहसांड चरित, श्लोक—76
42. एम० एन० घोष — भारत का प्राचीन इतिहास पृ० 409
43. इण्डियन एण्टीन्वेरी 21, पृ० 176
44. सोलंकी राजाओं का इतिहास पृ० 6
45. द्वयाश्रय काव्य — 3: 181
46. डा० दशरथ शर्मा — अर्ली चौहान डाईनेस्टीज पृ० 239 दिल्ली—1956
47. इपिग्राफिका इण्डिका — पृ० 293
48. डन्डियन ऐटिक्वेरी—18 पृ० 341-43, ऐपिग्राफिका इंडियका—पृ० 412
49. ओम् प्रकाश — प्राचीन भारत का इतिहास (चतुर्थ संस्करण) — पृ० 433
50. ओम प्रकाश — प्राचीन भारत का इतिहास — पृ० 339
51. बेनी प्रसाद — स्टेट इन ऐंशियेंट इण्डिया — पृ० 257
52. धार्मिक पालनपरं सम्यक् परपुर ज्जयम्
राजान मभिभन्यते प्रजापतिमिव प्रजा।। 1/11 का० नि० सार
53. वही सर्ग 2 श्लो० 10/6- वही—सर्ग 4 श्लोक 12, 25-31
54. वही सर्ग—17 श्लोक 26
55. वही—सर्ग 4 श्लोक 12, 25-31
56. त्रप्याश्च दण्डनीतयाश्च कुशलोऽस्य पुरोहितः।
अथर्व विहितं कर्म्म कुर्य्याच्छन्तिक पौष्टिकम्।। 4/32 का० नि० सा

57. भेदं कुवर्ति यत्नेन मन्त्रयभात्य पुरोध साम्
तेषु भिन्नषु भदो हि युवराजे तथोर्जित।। 17/25 का० नि० सा०
58. पुण्याह ब्रह्मथेषाढयो नृत्यगीतसमस्वनः।
निर्भीति को महोत्साह आकाङ्क्षित जयोदयः।। 16/30
59. ब्राह्मणे जाति मात्रेऽपित धार्मिक के चात्त्यजे पिऽहि।
धर्म्मोन्निनीषया विद्वान न वधं दण्डभादिशेत्।। 17/13
60. कुलं, शीलं, दया, दानं, धर्म, सत्यं कृतज्ञता।
अद्रोह इति येष्वेतदा यार्चस्तान्प्रचक्षते।। 17/48
61. कुलं, शीलं, दया, दानं, धर्मः सत्यं कृतज्ञता।
अद्रोह इति येष्वेतदा चार्यस्तान्युचक्षते।। 15/46
62. पुरोधा प्रथमं श्रेष्ठः सर्वेभ्यो राजराष्ट्र भृत।
तदनु स्यात्प्रतिनिधिः प्रधानस्तदनन्तरम्।। शुक० 2/74
63. नीति शास्त्रस्त्रा व्यूहादि कुशलस्तु पुरोहितः
सेवा-चार्यः पुरोधायः शापानुग्रहपोः क्षम।। शुक्र 2/79
64. स्वधर्माचरणे दक्षो देवताराधने रतः।
निः स्पृहः सच कर्तव्या देव तुष्टियतिः सदा।। शुक्र 2/157
65. स्वधर्माचरणे पक्षो देवताराधने रतः।
निः स्पृहः च कर्तव्यो देव तुष्टिपतिः सदा।। शुक्र 2/157
66. याचके विभुखं नैव करोति न च संग्र हम्।
दानशीलश्च निर्लोभो गुणश्च निरालसः।। शुक्र 2/158
67. पुरोगमन मुत्थानं स्वासने सन्निवेशनम्।
कुर्यास्त कुशल प्रश्नं क्रमात्सुस्मितदर्शनम्। 2/267
68. तत्पदे तस्य कुलजं गुणयुक्तं पुरोहितः।
प्रकृत्य नुमतिं कृत्वा स्थापयेद्राज्य गुप्तये।। 2/262
69. वही-अध्याय 2, श्लोक 291-92
70. के० पी० ज़ायसवाल-हिन्दू पालिटि पृ० 263-64
71. वही-अध्याय। श्लोक 363
72. वही अ०। श्लोक 38
73. स्वधर्मरथ ब्राह्मण हि दृष्टवा विभ्यति चेतरे।
क्षत्रियाद्या नान्यथा स्वधर्म चातः समाचरेत्। 3/270 शु०

5

उपसंहार

यदि विश्व की विभिन्न संस्कृतियों का अध्ययन किया जाय तो विदित होता है कि सम्पूर्ण मानव जाति तथा उसके क्रियाकलापों के कुछ आधारभूत तत्व सदा विद्यमान रहे हैं, जिन्होंने उस संस्कृति को विशिष्टता श्रेष्ठ परम्परायें तथा स्थायित्व प्रदान किया। संस्कृति का विकास किसी एक व्यक्ति के प्रयास का परिणाम नहीं अपितु एक समाजिक प्रक्रिया है। भारतीय संस्कृति भी सम्पूर्ण मानव समाज की एक अमूल्य धरोहर है। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक का इसका इतिहास विविधताओं के मध्य एकता की स्थापना करने की गाथा है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि भौगोलिक, सामाजिक, धार्मिक भाषा, रूढ़ियाँ एवं परम्पराओं, जाति आदि में विविधताओं के होते हुए भी इसमें हमें अभूतपूर्व एकता के दर्शन होते हैं। इस अनेकता में एकता के विभिन्न कारणों में एक महत्वपूर्ण कारण रहा है—धर्म। धार्मिक तथा सामाजिक अनेकता के दुष्परिणामों से समय–समय पर भारतीय धार्मिक चिंतक तथा समाज सुधारक सजग करते रहे तथा एकीकरण की प्रवृत्ति को बलवती बनाने की प्रेरणा दी।

वस्तुतः भारतीय जीवन का मूलाधार धर्म है। प्राचीन काल से ही धर्म प्रधानता भारतीय समाज की एक विशेषता रही है। शरीर, मन की शुद्धि, व्यक्तित्व का विकास, आचरण, खान–पान तथा वेश भूषा, संस्कार शिक्षा आदि धर्म से ही प्रभावित रहे है।

इस प्रकार समस्त सामाजिक व्यवस्थायें धर्म से ही प्रभावित रही हैं। मानव का कर्म धर्म पर ही आधारित था। धर्म के बिना कर्म की सार्थकता नहीं थी। इहलौकिक तथा पारलौकिक सुखों की प्राप्ति का एकमात्र साधन धर्म ही माना गया था। मनुष्य की नैतिकता तथा सात्विक क्रियायें धर्म द्वारा ही मर्यादित थी। यहाँ तक कि धार्मिक प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य अपने व्यक्तिगत लाभ का भी परित्याग करता आया है। इस प्रकार धर्म का अभिप्राय किसी धार्मिक सम्प्रदाय से नहीं अपितु अत्यन्त व्यापक था, जिसमें धार्मिक विद्वान भी समाहित थे। पौरोहित्य भी इसी धार्मिक परम्पराओं का एक अंग रहा है।

यद्यपि पौरोहित्य कर्म अत्यन्त प्राचीन काल से ही समाज का एक अभिन्न अंग रहा है किन्तु पुरोहित की उत्पत्ति कब, क्यों तथा किन परिस्थितियों में हुई

यह एक विचारणीय विषय है। एन० एन० ला का मत है कि पुरोहित की उत्पत्ति यज्ञों के फलस्वरूप हुई। वर्ण–व्यवस्था की उत्पत्ति से पूर्व राजा स्वयं ही अपने तथा प्रजा के हित के लिए यज्ञ सम्पन्न करता था। निरूक्त में देवापि नामक राजकुमार को एक अवसर पर पुरोहित के स्थान पर यज्ञ करते हुए कहा गया है। अतः पुरोहित की उत्पत्ति आर्यों के भारत में बस जाने के पश्चात हुई होगी[1]। इसके विपरीत फिक् ने पुरोहित का अस्तित्व पूर्व वैदिक काल में सिद्ध करने का प्रयास किया है[2]। वस्तुतः सिन्धु सभ्यता से सम्बन्धित स्थलों यथा मोहेनजोदड़ों तथा हड़प्पा से प्राप्त पुरावशेषों का विश्लेषण किया जाय तो उनसे तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक दशा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इन पुरावशेषों में मातृदेवी की मूर्तियाँ, योगी की मूर्ति तथा मुहरे जिन पर विभिन्न पशुओं व पक्षियों के चित्र अंकित है उल्लेखनीय है। सर जान मार्शल के अनुसार सिन्धु संस्कृति में मातृदेवी को आद्यशक्ति के रूप में पूजा जाता था। योगी की मूर्ति को राधा कुमुद मुखर्जी ने ऋग्वैदिक रूद्र अथवा पशुपति शिव से समता की है। मोहनजोदड़ों का विशाल स्नानागार का भी धार्मिक महत्व रहा होगा। जहाँ लोग धार्मिक उत्सवों पर एकत्र होकर स्नान करते थे। यहां पुरोहित के कक्ष तथा सभा–भवन के अवशेष भी मिले हैं[3]। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर समाज में चार वर्गो का अनुमान लगाया गया है यथा–बौद्धिक वर्ग, राजकीय पदाधिकारी, व्यापारी एवं व्यवसायी तथा श्रमिक वर्ग। बौद्धिक वर्ग में संभवतः, पुरोहित, वैद्य, ज्योतिषी आदि की गणना की जाती रही होगी। सिन्धु सभ्यता का नगर विन्यास तथा भवन निर्माण यह प्रभावित करता है कि यहां का प्रशासन विकसित एवं सुसंगठित रहा होगा। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर ह्वीलर ने मत व्यक्त किया है कि हड़प्पा के स्वामी अपने नगर का शासन उसी प्रकार करते थे जैसे सुमेरके पुरोहित राजा। यह इस बात का संकेत है कि सिन्धु सभ्यता के काल से ही धार्मिक संगठन विद्यमान थे तथा पुरोहित भी अस्तित्व में रहा होगा।

वेदों में प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद संहिता है। इसमें तत्कालीन सामाजिक जीवन का अच्छा चित्रण है। ऋग्वेद में पुरोहित को अग्नि का रूप बताते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि से प्रकाश और ऊर्जा प्राप्त होती है, उसी प्रकार पुरोहित समाज का नेतृत्व करता है। पुरोहित के द्वारा समाज से अज्ञान रूपी अन्धकार दूर किया जाता है। समाज को सबल समृद्ध बनाने के लिए धार्मिक कर्मकाण्डों में पुरोहित द्वारा देवों का आह्वान किया जाता था।

संभवतः ऋग्वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था इतनी परिपक्व स्थिति में नहीं थी। अतः ब्राह्मण ही पुरोहित हो यह आवश्यक नहीं था। संभवतः वेदों में पारंगत व्यक्ति ही विद्वान था तथा उसे धार्मिक कृत्यों को सम्पन्न कराने का अधिकार प्राप्त रहा होगा। राजा के प्रमुख परामर्शदाताओं में पुरोहित एक था।

वैदिक युग में ज्ञानार्जन एक कठिन कार्य था। वेदों की शिक्षा सामान्यतः

मौखिक थी। इसको छात्र कण्ठस्थ कर लेते थे। उस युग में शिक्षा का कार्य पुरोहित ही करते रहे होंगे। चूँकि अध्यापन यही वर्ग करता था। धीरे–धीरे वर्ण व्यवस्था का स्वरूप निखरने लगा, जिसमें कर्म के अनुसार वर्गीकरण प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ में केवल दो वर्ग थे यथा—आर्य तथा अनार्य। कर्म के अनुसार जो वर्ण व्यवस्था स्थिर हुई वह एक सुगठित सामाजिक वर्गीकरण था, जिसमें रूचि के अनुरूप कर्मों के आधार पर विभाजन किया गया। इस प्रकार जिसने अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना कराना, दान लेना–देना आदि कर्म किया, वह ब्राह्मण कहलाया। समाज की रक्षा करना क्षत्रिय कर्म था। कृषि, व्यापार आदि कर्म वैश्य के थे। सेवा कर्म शूद्रों का नियत किया गया। इससे समाज के कार्यो की सुचारू रूप से व्यवस्था हुई। यहाँ तक कि विभिन्न वर्णो की उत्पति ब्राह्मण के विभिन्न अंगों से बता कर उनकी सामाजिक स्थिति भी स्पष्ट की गई। मुख से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण सर्वोच्च माना गया।

ऋग्वेद के अनुशीलन से तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के साथ–साथ धार्मिक विश्वासों का जो स्वरूप ज्ञात होता है उससे पौरोहित्य तथा पुरोहित की स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। इस काल में देव शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थो में किया गया जिसके अर्न्तगत परम पुरुष प्रकृति की विभिन्न शक्तियां पूर्वज, आचार्य, माता पिता सभी सम्मिलित थे। आर्यो का विश्वास एक सर्वोच्च शक्ति "सत्" अर्थात् परम पुरूष में था जिसकी उन्होंने विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति की। एकेश्वर वादी होते हुए भी आर्य बहुदेववादी थे। उनका विश्वास था कि देवताओं की कृपा से धन धान्य की वृद्धि तथा जीवन सुखमय होगा। संभवतः यही कारण रहा होगा कि ऋग्वेद की अनेक ऋचायें देव स्तुतियों में रची गई। स्तुति का देवों की उपासना में प्रमुख स्थान था। इसके माध्यम से देवताओं को प्रसन्न करके लौकिक सुखों की प्राप्ति की कामना की जाती थी। देव स्तुति का माध्यम यज्ञ ही थे। यज्ञ का महत्व ऋग्वेद के इस कथन से स्वतः प्रमाणित हो जाता है जहाँ कहा गया है कि "हे अग्नि देव, जो तुम्हारा यज्ञ करता है वह स्वर्ग में चन्द्र बन जाता है[4]। ऋग्वेद में ही पुरूष सूक्त में उल्लेख मिलता है कि यज्ञ से ही सृष्टि की उत्पति हुई है। इसे सम्पन्न करने से समस्त पाप धुल जाते हैं। ऐसा भी विश्वास था कि यज्ञ के माध्यम से देवता वश में हो जाते है तथा मनुष्य को मनोनुकूल लाभ प्रदान करते हैं[5]। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि "यज्ञों वै श्रेष्ठतमं कर्म" अर्थात् मनुष्य के सभी कर्मो में यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ कर्म है। यज्ञ मंत्रोच्चारण के साथ सम्पन्न किये जाते थे। मन्त्रोच्चारण के साथ घी, दूध, धान्य आदि की आहुतियाँ दी जाती थी।

यज्ञ (होम) के भौतिक स्वरूप के पीछे एक गम्भीर आध्यात्मिक चिन्तन प्रतीत होता है। इसकी व्युत्पत्ति आदिम दैव यज्ञ से हुई जिसमें भगवान ने स्वयं अपने विराट रूप को धारण कर अपनी प्रस्तावित सृष्टि के लिए सामग्री जुटाने

के निमित्त बलिदान किया[6]। पूजा पाठ के विशेष आयोजनों के साथ–साथ अग्नि प्रज्वलित की जाती थी और इसमें देवों को प्रसन्न करे हेतु घी धन–धान्य आदि की आहुति दी जाने लगी, जिससे देवों को प्रसन्न किया जा सके। यज्ञ सम्पन्न कराने वाले को पुरोहित के रूप में संबोधित किया गया। पुरोहित ब्राह्मण होता था। यज्ञ में पुरोहित की उपस्थिति आवश्यक होती थी ऐसा प्रतीत होता है कि यज्ञीय परम्परा प्रारम्भ करने के पीछे ब्राह्मण वर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका रही होगी।

ऋग्वेद के अनुसार पुरोहित अग्नि रूप है। चूंकि आर्य अग्नि के उपासक थे अतः यज्ञ एवं अग्नि का उनके जीवन से अटूट सम्बन्ध था।

सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार वैदिक युग के आर्य विविध देवताओं की पूजा करते थे। इन्द्र, मित्र, वरूण, अग्नि, यम आदि उनके अनेक देवता थे जिन्हें तृप्त व सन्तुष्ट करने के लिए वे अनेक विधि विधानों का अनुसरण करते थे। इसलिए यज्ञ करना इसी कर्म काण्ड तथा पूजा का एक अंग था जिसे आर्यो ने अंगीकार किया। इन देवताओं की पूजा के लिए अनेक विधि से यज्ञों का सम्पादन किया जाता था। यज्ञ कुण्ड में अग्नि का आह्वान कर विविध सामग्रियों की आहुति दी जाती थी[7]।

ऋग्वैदिक युग में यज्ञ की महत्ता को देखते हुए इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि पुरोहित का अत्यधिक महत्व रहा होगा। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस युग में जिन प्रशासनिक अधिकारियों का उल्लेख मिलता है उनमें पुरोहित भी सम्मलित था। जिसका प्रमुख कार्य राजा को उचित तथा अनुचित कार्यो के प्रति सचेत करना था। संभव है उसकी धार्मिक महता के कारण ही प्रशासनिक क्षेत्र में भी उसे यह सम्मान दिया गया हो। ऋग्वेद में पुरोहित के जो कार्य बताये गये हैं उनमें जनता को प्रकाश का मार्ग दिखाना, हित करने की आयोजना करना, ऋतु के अनुसार यज्ञ करना, सत्कार संगति दानात्मक शुभ कर्म करना, रत्नों को धारण तथा दान करना आदि[8]। इससे स्पष्ट है कि कम से कम ऋग्वैदिक युग में पौरोहित्य परम्परा का सूत्रपात हो चुका था तथा उसका अत्यधिक सम्मान था। वह केवल धार्मिक अनुष्ठानों तक सीमित नहीं था अपितु प्रशासन का भी अविभाज्य अंग बन चुका था।

कालान्तर में याज्ञिक विधि विधान जटिल होने लगे। इसका प्रमुख कारण धार्मिक अनुष्ठानों के प्रति बढ़ती आस्था के साथ–साथ जीवन के प्रति बदलते हुए दृष्टिकोण के कारण विभिन्न वर्णों का जन्म के आधार पर विभाजन का सुदृढ़ होना था। तैत्तिरीय संहिता तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण[9] में ब्राह्मण को दिव्य वर्ण वाला तथा पृथ्वी पर प्रत्यक्ष देवता के रूप में स्वीकार किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मण को स्पष्ट रूप से क्षत्रियों से श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। उत्तर वैदिक काल का धार्मिक जीवन ऋग्वैदिक काल के समान ही था। केवल परलोक की

कल्पना इस युग की नई देन थी। अथर्ववेद में उल्लेख मिलता है कि अच्छे कर्म करने वाले व्यक्ति देवताओं के पास जाते हैं जहां घी, दूध, शहद, दही आदि की भरमार है। इसके विपरीत बुरे कर्म करने वाले नरक में रक्त में बैठकर बाल चबाते हैं[10]। ऐसी धारणा थी कि देवताओं ने तप तथा यज्ञ के आधार स्वर्ग को विजित किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि परलोक की कामना से जहाँ यज्ञों की महत्ता बढ़ी है वहीं ब्राह्मण वर्ण तथा यज्ञ सम्पन्न करने वाले पुरोहितों के महत्व एवं प्रतिष्ठा में भी अभूतपूर्व वृद्धि हुई।

पूर्व ऋग्वैदिक युग में याज्ञिक प्रक्रिया सरल थी किन्तु उत्तर वैदिक काल में अत्यन्त रहस्यमय तथा जटिल हो गई। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका विशद रूप का प्रतिपादन मिलता है। कर्म काण्डीय विधि विधान तथा मन्त्रों का गूढ़ रहस्य जन–साधारण की समझ के बाहर हो गया था। उन्हें केवल यह आभास कराया गया कि लौकिक सुखों की प्राप्ति तथा पारलौकिक शान्ति के लिए यज्ञ सम्पन्न करना अनिवार्य है। यज्ञ की प्रधानता के कारण मनुष्य का जीवन विभिन्न कर्त्तव्यों से युक्त हो गया जिसमें पंच महायज्ञों का सम्पन्न करना अनिवार्य बना दिया गया। इनका सम्मिलित परिणाम यह हुआ कि साधारण गृहस्थ पुरोहितों के आश्रित हो गये। धनिक वर्ग तथा राजा बृहद यज्ञों का आयोजन करते थे जिनमें 16-16 पुरोहितों की आवश्यकता होती थी।

राजकीय पदाधिकारी के रूप में पुरोहित प्रतिष्ठित था। वैदिक काल में राजपद प्रायः वंश-परम्परागत हो गया था। राजपद ग्रहण करने से पूर्व राज्याभिषेक संस्कार का विधान था। इस अवसर पर राजसूय यज्ञ तथा विभिन्न संस्कार सम्पन्न कियें जाते थे, जिनमें पुरोहित की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। भावी राजा पुरोहित द्वारा राजनियमों तथा कर्त्तव्य पालन के प्रति निष्ठावान रहने, ब्राह्मण तथा धर्म की रक्षा करने एवं प्रजा के हित की शपथ दिलाने के पश्चात ही राजपद का अधिकारी माना जाता था। अतः राजकीय पदाधिकारियों में उसकी गणना स्वाभाविक ही थी। विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति न्याय, संधि–विग्रह, आर्थिक नीति आदि में पुरोहित से परामर्श लेना राजा का परम धर्म था।

वस्तुतः विद्या का बल पौरोहित्य की महत्ता तथा शक्ति का प्रमुख था। पौरोहित्य कर्म ब्राह्मण ही करते थे। विद्या का बल ब्राह्मणों में ही केन्द्रित था। ब्राह्मणों के कर्म में वेदाध्ययन, अध्ययन, यज्ञादि सम्पादन मुख्य था। वे अपने तपस्वी त्यागपूर्ण तथा आदर्श जीवन के कारण श्रद्धा के पात्र तथा नैतिकता के प्रतीक माने जाते थे। इस प्रकार बौद्धिक श्रेष्ठता, यज्ञ की अनिवार्यता तथा जटिलता एवं रहस्यमय कर्मकाण्ड आदि कारणों से ब्राह्मण वर्ग तथा पुरोहित को इस युग में अत्यधिक महत्व दिया जाने लगा। किन्तु इस महत्व का परिणाम यह हुआ कि पौराहित्य कर्म का झुकाव व्यवसायिकता की ओर होने लगा।

उत्तर वैदिक कालीन धार्मिक जीवन में एक ओर जहाँ यज्ञों के सम्पादन पर अध्यधिक बल दिया गया वहीं दूसरी ओर तत्वज्ञान, ब्रह्मज्ञान तथा आत्मज्ञान आदि दार्शनिक विचारों का भी विकास हुआ। इसका प्रमुख श्रेय उपनिषदों को है। तत्कालीन चिंतकों ने तर्कशक्ति के आधार पर आत्मा, परमात्मा, परमतत्व–स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि को पारिभाषित करते हुए स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया। उन्होंने यज्ञों तथा कर्मकाण्ड को कुछ व्यक्तियों द्वारा अपनी महत्ता बनाये रखने का साधन तथा स्वार्थ परिता मानते हुए निरर्थक बताया। उपनिषदों में प्रतिपादित आत्मा तथा ब्रह्म का संबंध उत्तर वैदिक कालीन दार्शनिक विचार धारा की प्रमुख देन थी। मोक्ष की प्राप्ति हेतु उपनिषदों में सदाचारी तथा संयमी जीवन एवं सत्कर्मों को प्रमुखता दी गई न कि याज्ञिक कर्मकाण्ड को। यदि मनुष्य का कर्म पवित्र है, वह सदाचारी तथा संयमी है तो वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है अन्यथा उसे कर्मानुसार फल भोगने के लिए पुनर्जन्म लेना होगा। इस बौद्धिक चिंतन ने जहाँ ब्राह्मणों की सर्वोपरिता पर आघात किया, वहीं धार्मिक चिंतन की धारा ही मोड़ दी, जिसने कालान्तर में धर्म के क्षेत्र में क्रान्तिकारी विचारों को जन्म दिया। क्षत्रियों, राजाओं में विदेह के जनक पंचाल के प्रवाहण जैवलि तथा कैकय नरेश अश्वपति अपने तत्व ज्ञान के लिए प्रसिद्ध थे जिनकी राजसभा में ब्राह्मण भी ज्ञानार्जन हेतु आते थे[11]। इस तथ्य को ब्राह्मणों की सर्वोच्च सत्ता के प्रति चुनौती का प्रतीक माना जा सकता है।

उत्तर वैदिक युग में कर्मकाण्ड की जटिलता, नियमों तथा उनके अर्थों की क्लिष्टता को सरल तथा बोधगम्य बनाने की दृष्टि से सूत्र ग्रन्थों की रचना हुई। फलस्वरूप प्राचीन मान्यताओं तथा परंपराओं को समयानुसार नवीन परिवेश में निरूपित किया गया। सामाजिक संगठन वर्णाश्रम धर्म पर आधारित था। समाज में ब्राह्मण विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग बन गया था। मानव के जीवन को चार भागों में बांट कर आश्रम व्यवस्था को सुदृढ़ रूप प्रदान किया। वह अपने जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति हेतु साधना करता था। गृहसूत्रों में जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तक सम्पन्न किये जाने वाले संस्कारों का उल्लेख मिलता है। ये संस्कार मात्र कर्मकाण्ड नहीं था अपितु मनुष्य के जीवन से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित थे। यज्ञीय कर्मों में पंच महायज्ञों को सम्पन्न करना प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य था। श्रौत सूत्रों में पुरोहित द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले यज्ञों के विस्तृत नियम प्रतिपादित हैं। सूत्रकालीन धार्मिक जीवन में पूर्व काल की स्थिति ही रही। इसमें कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। यज्ञ धार्मिक जीवन के प्रमुख अंग थे।

वस्तुतः देखा जाय तो उत्तर वैदिक काल में कर्म काण्ड की जटिलता तथा उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक विचारधारा के कारण जो अन्तर्विरोध तथा क्षत्रिय एवं ब्राह्मण की प्रतिद्वंदिता से जो स्थिति उत्पन्न हुई थी उसका इस युग में समाज तथा धर्म पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। सूत्रकारों ने संस्कारों तथा

आश्रम व्यवस्था को सुसंगठित रूप प्रदान कर तथा याज्ञिक कर्मकाण्ड संबंधी जटिल नियमों को स्पष्ट एवं सरल बनाकर वैदिक धर्म में नवीन प्राण फूँक दिये। अतः ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि पुरोहित की प्रतिष्ठा एवं महत्व पूर्व की अपेक्षा बढ़ा ही होगा। गृहस्थाश्रम में सम्पन्न किये जाने वाले संस्कार, पंच महायज्ञ तथा श्रौत यज्ञ यथा–वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, अग्निष्टोम आदि को सम्पन्न करने की दृष्टि से पुरोहित की आवश्यकता इस युग में भी रही होगी। राजा के परामर्शदाता के रूप में भी पुरोहित का स्थान पूर्ववत् विद्यमान रहा। सूत्रकारों ने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि राज्य तथा राजा के कल्याण के लिए पुरोहित का होना आवश्यक है क्योंकि वह अशुभ से रक्षा करता है।

रामायण तथा महाभारत में भी इस आशय के उदाहरण मिलते हैं जिनसे विदित होता है कि ब्राह्मण पौरोहित्य तत्कालीन समाज तथा धर्म का प्रमुख अंग था। बाल्मिकी रामायण तथा रामचरित मानस में वशिष्ठ को राजपुरोहित तथा कुलगुरू के रूप में चित्रित किया गया है। वह राज–परिवार के सुख दुःख के अभिन्न साथी एवं प्रत्येक कार्य मे परामर्शदाता थे। उन्होंने ही पुत्राष्टि यज्ञ कराया, राजपुत्रों के विभिन्न संस्कार सम्पन्न किये तथा विद्यादान दिया। युवराज के राज्यभिषेक के सन्दर्भ में सर्व प्रथम वशिष्ठ से ही परामर्श किया गया। महाभारत के शांति पर्व में पुरोहित को राजा तथा राज्य का रक्षक बताया गया है। स्वयं राम द्वारा यज्ञानुष्ठान का अयोजन इस बात का प्रमाण है कि यज्ञ की महत्ता पूर्ववत थी। साधारण गृहस्थ अपने घरों पर ही विभिन्न संस्कारों तथा पंच महायज्ञों को पुरोहित द्वारा सम्पन्न करवा लेते थे। महाकाव्य कालीन समाज में कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद की भावना भी बलवती हो रही थी। आवागमन से छुटकारा पाने हेतु तपस्या, ज्ञान तथा भक्ति के मार्ग का अनुसरण करने पर बल दिया जाने लगा। परन्तु इसका कर्मकाण्डीय धार्मिक अनुष्ठानों पर तात्कालिक प्रभाव नहीं पड़ा।

महाकाव्यों के अनुशीलन से विदित होता है कि पुरोहित याज्ञिक विधान का मर्मज्ञ एवं राज धर्म का नेता था। वस्तुतः पुरोहित का मान एवं सम्मान उसके सदाचारी जीवन एवं तपस्या के कारण था। अपने ज्ञान तथा बुद्धि से वह न केवल द्विज वर्णो को शिक्षित करता था अपितु उनके बौद्धिक विकास में भी सहायक था। धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न कर वह समाज की मंगल कामना करता था। समाज का सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विकास उसी के कृत्यों एवं सेवाओं पर आधारित था। ब्राह्मणों के महान कार्यो एवं आदर्शो के कारण उनका मान सम्मान इतना अधिक था कि उसका वध नही किया जा सकता था[12]। ब्रह्म हत्या महापाप मानी जाती थी। ब्राह्मणों के लिए वेदाध्ययन तथा तपस्या का जीवन व्यतीत करना आवश्यक था। स्वाध्याय और तप–रहित ब्राह्मणों के लिए दान प्राप्त करने का विधान नहीं था[13]। यद्यपि वर्ण व्यवस्था संबंधी नियम कठोर

थे फिर भी इस प्रकार के उदाहरण महाकाव्य काल में मिलते हैं कि ब्राह्मण अन्य वर्णों के कर्म अपना सकता था। द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा ने ब्राह्मण होते हुए भी उन्होंने क्षत्रिय धर्म ग्रहण किया। अनेक वैश्य कर्मा ब्राह्मण थे जिन्होंने अपनी जीविकोपार्जन का साधन पशुपालन बनाया था[14]। महाकाव्य काल में वीर पूजा से लोगों का विश्वास उठ रहा था। अवतार बाद का प्रधान्य बढ़ रहा था। गीता में कर्मवाद पर बल प्रदान किया गया है।

वैदिक काल में पुरोहित हिंसात्मक यज्ञों का पक्षपाती था। इनका विधान अत्यन्त जटिल था। किन्तु महाकाव्यों के काल में हिंसात्मक यज्ञ के स्थान पर आत्म यज्ञ, आत्म संयम तथा चरित्र शुद्धि पर बल दिया जाने लगा था। इस युग में अहिंसात्मक धर्म का भी विकास हो रहा था, जिसके द्वारा हिंसात्मक यक्षों का बहिष्कार कर शुद्ध संस्कार युक्त यज्ञों का सम्पादन हुआ। यज्ञों के सम्पन्न में तथा राज्य कार्यों में पुरोहित के महत्व को देखते हुए उसकी योग्यता पर भी तत्कालीन आचार्यों ने बल प्रदान किया है। महाभारत में भीष्म युधिष्ठिर से कहते है कि जो सत् की रक्षा करे तथा असत्य के निवारण करे उसी को राजपुरोहित बनाना चाहिए। जो विद्वान और बहुश्रुत हो और धर्म तथा अर्थ के कार्यों को बहुत शीघ्र समझ सके, जो धर्मात्मा हो और मंत्रनीति का ज्ञाता हो उसी को राजपुरोहित बनाना चाहिए। क्योंकि राष्ट्र का योग क्षेम तो राजा के हाथ है परन्तु राजा का योग क्षेम पुरोहित के आधीन है[15]। यह इस बात का प्रमाण है कि पौरोहित्य कर्म साधारण ब्राह्मण नहीं कर सकता था। उसके लिए वेदों का ज्ञाता तथा मंत्रानुष्ठान में निपुण होना आवश्यक था। संभवतः यही कारण रहा होगा कि साधरण ब्राह्मण अन्य वर्णों की वृत्ति अपना सकता था। यह भी संभावना है कि कुलीन तथा विद्वान ब्राह्मणों द्वारा पौरोहित्य कर्म करने के कारण पुरोहित का एक वर्ग विशेष रूप में प्रतिष्ठित होने का सूत्रपात हो।

वैदिक युगीन धर्म अत्यन्त सरल तथा उदारता से पूर्ण था किन्तु जैसे–जैसे समय व्यतीत हुआ उसमें संकीर्णता आने लगी। महाकाव्य काल में भी शूद्रों को धर्म में कोई स्थान न था। वर्णगत भेदों के अन्याय तथा जटिल कर्मकाण्ड का परिणाम हमें कालानतर में धार्मिक क्रान्ति के रूप में देखने को मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि महाकाव्यकालीन चिंतक इस कटु सत्य से परिचित हो चुका था तभी महाभारत के अनुशासन पर्व में कहा गया है कि न जन्म से कुछ होता है न यज्ञ से न ज्ञान से, चरित्र ही सब कुछ है।

छठी शताब्दी ई० पू० को धार्मिक क्रान्ति का युग कहा जा सकता है। यह क्रान्ति विश्वव्यापी थी। इस समय पूरे विश्व में अन्ध विश्वास के विरूद्ध आन्दोलन हो रहे थे। इसी काल में भारत में भी एक महान धार्मिक क्रान्ति हुई। वैदिक काल का धर्म अत्यन्त सरल तथा आडम्बरहीन था। परन्तु कालान्तर में वह धर्म अत्यन्त जटिल एवं दुरूह बना दिया गया। इसके परिणाम स्वरूप यज्ञों

में हिंसा तथा (बलि) का प्रवेश हो गया था। समाज में ब्राह्मणों की सत्ता पूर्णरूप से स्थापित हो चुकी थी। कठोर हिन्दू धार्मिक अनुष्ठानों, कठिन कर्म काण्डों ओर जटिल याज्ञिक क्रियाओं से जन–साधारण को विरक्ति होने लगी थी। ब्राह्मण पुरोहितों के आडम्बर के कारण साधारण जनता धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूला चुकी थी।

यज्ञों तथा बलिदोनों का विरोध तो उपनिषद काल से ही प्रारम्भ हो गया था। महान दार्शनिकों ने याज्ञिक कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए ज्ञान मार्ग का उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया था। शनै–शनै यह विचारधारा प्रबल होती गयी और अंततः एक वैचारिक क्रान्ति कें रूप में प्रस्फुटित हुई। इस समय लोग केवल धार्मिक आडम्बर से ही असन्तुष्ट न थे, वरन सामाजिक व्यवस्था से भी क्षुब्ध थे। कठोर वर्ण व्यवस्था तथा समाज में ऊँच–नीच, छुआछूत की भावना इतनी बढ़ गई थी कि इसकी प्रतिक्रिया ने छठी श० ई० पू० में विस्फोटक स्थिति प्राप्त कर ली।

इस क्रान्ति के कारण नये मतों का उत्थान हुआ, जिन्होंने भारतीय धर्म तथा समाज पर अपना अमिट प्रभाव डाला। इनमें मुख्य जैन, बौद्ध, वैष्णव तथा शैव थे। इन चारों सम्प्रदायों ने मुख्य रूप से ब्राह्मण धर्म की रूढ़िवादिता पर कुठाराधात करते हुए प्रचलित यज्ञवाद का विरोध किया। कर्म पर बल देकर उन्होंने मनुष्य को अपना भाग्य विधाता बताया तथा अपने तर्क के बल पर ब्राह्मणों की पुरोहिताई को चुनौती देते हुए यज्ञों, बलियों तथा अपव्ययी कर्मकाण्ड का विरोध किया। जैन तथा बौद्ध धर्म जहां संयम अनुशासन तथा सदाचार प्रमुख थे वहीं वैष्णव तथा शैव मत भक्ति तथा आध्यात्म प्रधान थे। नवीन धार्मिक विचार अत्यधिक सरल एवं बोधगम्य होने के कारण जन–साधारण का समर्थन प्राप्त करने में सफल रहे।

जैन तथा बौद्ध मतों के प्रवर्तक क्रमशः महावीर तथा गौतम बुद्ध थे। जो क्षत्रिय राजकुमार थे। अतः इनका प्रचार–प्रसार क्षत्रियों से सम्बनधित रहा। इन धर्मों ने हिंसा का घोर विरोध करते हुए ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड को भी निरर्थक बताया था। संस्कृत भाषा जो ब्राह्मणों की देव वाणी थी, उसके स्थान पर पाली तथा प्राकृत भाषा का प्रयोग किया जाने लगा था। संभवतः इस संघर्ष का कारण पुरोहिताई की वृत्ति थी। इन धर्मों का द्वार समस्त वर्णों के लिए खुला था जिसका प्रभाव यह हुआ कि क्षत्रियों के साथ–साथ निम्न वर्ग भी ऊपर उठा।

सामान्य जीवन में नैतिकता पर बल दिया जाने लगा। दोनों धर्म के प्रवर्तक जाति–पाँति के विरूद्ध थे। उनका उपदेश था कि व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण नहीं होता। ब्राह्मण वह है जिसका मन, ऊँचा है हृदय पवित्र है चरित्र शुद्ध है तथा आत्मा में संयम तथा धर्म है[16]। दीर्घ निकाय में क्षत्रियों को ब्राह्मणों से श्रेष्ठ बताया गया है[17]। अतः स्पष्ट है कि नवीन विचारों द्वारा समाज को एक नई दिशा

मिली तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता की भावना, आचार विचार के मत को बढ़ावा मिला।

सामाजिक व्यवस्था तथा ब्राह्मण धर्म पर कुठाराघात का परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण वर्ग की प्रभुता घटने के साथ–साथ यज्ञ तथा कर्मकाण्डों का महत्व भी घटा। इससे पौरोहित्य कर्म भी प्रभावित हुआ। पुरोहित पद की प्रतिष्ठा भी घटी। यहाँ तक कि ब्राह्मणों ने भी इस वैचारिक क्रान्ति का स्वागत किया। किन्तु साक्ष्य इस बात के प्रमाण है कि यह स्थिति अत्यन्त क्षणिक थी। नवीन धर्मो का उदय होना एक प्रतिक्रिया मात्र थी जो अपना स्थायी प्रभाव नहीं बना सके। समाज में वर्ण व्यवस्था तथा यज्ञीय कर्मकाण्डों की जड़ें इतनी गहरी थी कि उन्हें समूल नष्ट करना संभव नहीं था। किन्तु फिर भी इन धार्मिक सम्प्रदायों ने कालान्तर में देश के धार्मिक एवं सामाजिक वातावरण को प्रभावित किया तथा अपनी अमिट छाप छोड़ गये।

मौर्यकाल तक जैन तथा बौद्ध धर्म अपने विकसित रूप में स्थापित हो चुके थे। दूसरी तरफ वैदिक धर्म भी अपनी विरोधी प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न स्थिति से समन्वय स्थापित करके पुनः अपनी धूमिल छवि को निखारने में प्रयत्नशील था। जैन धर्म का विस्तार यद्यपि सीमित था फिर भी प्रभावशाली था। ब्राह्मण धर्म की कर्मकाण्डता तथा बौद्ध धर्म की जाति व्यवहारिकता के प्रति रूचि न रखने वाले जैन धर्म के प्रति आकर्षित हो रहे थे। स्वयं मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त ने वृद्धावस्था में जैन धर्म को अंगीकृत कर लिया था। मेगस्थनीज के विवरण से विदित होता है कि वैदिक यज्ञों की सत्ता पुनः स्थापित हो रही थी। उसका यह लिखना कि गृहस्थ लोग बलि देने के लिए तथा अपने पूर्वजों का श्राद्ध करने के लिए ब्राह्मणों की नियुक्ति करते हैं। यज्ञ तथा श्राद्ध में कोई मुकुट धारण नहीं करता। इससे आभास होता है कि साधारण गृहस्थ तथा उच्च वर्ग के लोग यज्ञ, हवन, बलि आदि का सम्पादन ब्राह्मण के द्वारा सम्पन्न कराते थे जो निःसंदेह पुरोहित ही रहे होंगे। अतः पौरोहित्य कर्म की प्रतिष्ठा पुनः समाज में स्थापित हो रही थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी विदित होता है कि ब्राह्मण ही यज्ञ करते तथा सम्पन्न कराते थे। उन्होंने लिखा है कि पुरोहित का सम्मान उसी प्रकार करना चाहिए जिस प्रकार शिष्य गुरू का तथा पुत्र माता पिता का करता है। स्वयं कौटिल्य भी मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के गुरू, प्रधानमन्त्री तथा राजपुरोहित थे। पुरोहित की नियुक्ति हेतु कौटिल्यि ने उसकी योग्यता पर बल देते हुए लिखा है कि जो अच्छे कुल, शील का हो, वेद ज्योतिषी दण्ड नीति का ज्ञाता हो, जो दैवी तथा मानवी विपदाओं का अथर्ववेद के उपायों से प्रतिकार कर सके उसे पुरोहित बनाना चाहिए। इससे पुरोहित की धार्मिक महत्ता के साथ–साथ प्रशासनिक क्षेत्र में भी महत्ता प्रमाणित होती है।

सम्राट अशोक द्वारा बौद्ध धर्म को राज्याश्रय प्रदान करने से इस प्रक्रिया

में पुनः व्यवधान उपस्थित हो गया। यद्यपि अशोक ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया वस्तुतः वह सभी श्रेष्ठ धर्मों का सार था, किन्तु बौद्ध धर्म से अत्यन्त प्रभावित था। दूसरे शब्दों में यदि यह कहा जाय कि अशोक का धर्म बौद्ध धर्म का परिकृष्त रूप था तो कोई अतिश्योक्ति न होगी। संक्षेप में दया, दान, सत्य, गुरूजन तथा माता पिता की सेवा जनक कल्याण तथा अहिंसा के पालन पर इसमें बल प्रदान करते हुए आडम्बरों तथा कर्मकाण्ड का खण्डन किया गया है। इसमें आचरण की शुद्धता को प्रमुखता देते हुए जन्म, विवाह, मृत्यु यात्रा आदि अवसरों पर आयोजित अनुष्ठानों को अनुचित बताया गया है। यंज्ञो में पशु हिंसा पर पूर्णतः प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। ऐसी स्थिति में वैदिक धर्म के पुनरूत्थान की गति अवश्य ही पुनः अवरूद्ध हो गई होगी जिसका प्रभाव पौरोहित्य पर भी पड़ा होगा।

शुंग वंश की स्थापना के साथ तत्कालीन धार्मिक दशा पुनः प्रभावित हुई। अशोक द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार से ब्राह्मण वर्ग अपने को उपेक्षित अनुभव कर रहा था। बौद्ध धर्म के निवृत मार्ग से प्रभावित होकर युवा वर्ग गृहस्थ वर्ग, यहां तक कि स्त्रियों द्वारा भी प्रवज्या ग्रहण करने के कारण तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में संकट की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। यद्यपि बौद्ध संघ पवित्र संस्था थी, फिर भी राजदण्ड से मुक्त होने के कारण अनेक असामाजिक तत्व भी संघ में सम्मिलित होकर यहां शरण पा जाते थे। ऐसी स्थिति का लाभ उठाकर ब्राह्मण वर्ग ने बौद्ध श्रमण परम्परा को ब्राह्मण धर्म का विरोधी बताकर इसके बहिष्कार का आह्वान किया। इसकी चरम परिणति तब हुई जब अंतिम मौर्य सम्राट के सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने जो एक ब्राह्मण था, सम्राट का वध कर शुंग वंश की स्थापना की। इस प्रकार शुंग काल ब्राह्मण धर्म एवं संस्कृति का पुनरूद्धार का काल था। पुष्यमित्र शुंग ने स्वयं अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न कर यज्ञीय कर्मकाण्डों को पुनःस्थापित किया था। उनके यज्ञ के पुरोहित स्वयं महा–पण्डित पतंजलि थे।

स्मृतिकारों ने सामाजिक व्यवस्था को उन्नत बनाने की दृष्टि से विस्तृत नियमों का प्रतिपादन करते हुए वर्णाश्रम धर्म तथा नैतिक आचरण के पालन पर बल दिया। चूँकि ब्राह्मण वर्ग ही यज्ञादि कर्मकाण्ड सम्पन्न कराने में समर्थ थे। अतः समाज के विभिन्न वर्णों में ब्राह्मण की सर्वोच्च सत्ता पुनः स्थापित हो गई। मनु तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में ब्राह्मणों के प्रधान कार्य वेदाध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना, कराना, तथा दान ग्रहण करना प्रमुख कार्य बताकर अन्य वर्णो से श्रेष्ठ बताया गया है। किन्तु ब्राह्मणों की उत्कृष्टता पुनः स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील स्मृतिकारों ने इस बात पर भी बल दिया कि ब्राह्मणों का जीवन लोभ से रहित हो, अकिंचन वृति को वे अपनाने वाले हो तथा त्यागी व तपस्वी बनें। धर्म से विमुख तथा गुण से रहित होने पर ब्राह्मण पतित हो जाता था[18]। विद्वान

तथा तपस्वी ब्राह्मणों के स्मृति ग्रन्थों में, विशेषाधिकार यथा अवध्य, अदण्डय तथा करों से मुक्त आदि के उल्लेख मिलते हैं। किन्तु अश्रोत्रिय (जो वेदों का ज्ञाता न हो) तथा अनाहिताग्नि (जो यज्ञ न करता हो) ब्राह्मण को इन विशेषाधिकारों से वंचित रखा गया था।

वैदिक धर्म के पुनरूत्थान के इस युग में गृहस्थ आश्रम को अन्य आश्रमों की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया गया। इसका कारण सम्भवतः यह है कि बौद्ध धर्म के प्रभाव से अनेक गृहस्थ भिक्षु का जीवन व्यतीत करने लगे थे। स्मृतिकारों ने इसके विपरीत यह तर्क दिया कि गृहस्थ रहते हुए भी मनुष्य धर्म तथा समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का उचित रूप से पालन कर सकता है। गृहस्थ आश्रम में मानव त्रिवर्ग यथा धर्म अर्थ एवं काम की साधना करने के पश्चात् ही जीवन के चरम परम मोक्ष की प्राप्ति के लिए सन्यास आश्रम की ओर अग्रसित हो सकता है। इस संसार में जन्म लेने हेतु वह जिनका ऋणी है उससे उऋण होने के लिए उसे पंच महायज्ञ सम्पन्न करना आवश्यक है। जो गृहस्थाश्रम में ही संभव है। मनु का कथन है कि जिस प्रकार वायु के द्वारा सभी प्राणियों की रक्षा होती है उसी प्रकार गृहस्थ आश्रम से अन्य तीनों आश्रमों का पालन पोषण होता है।

पूर्व की भाँति इस काल में भी स्मृतिकारों ने व्यक्ति के सामान्य जीवन में संस्कारों को सम्पन्न करने हेतु अधिक बल प्रदान किया। ऐसी धारणा व्यक्त की गई कि विभिन्न संस्कारों को सम्पन्न करके व्यक्ति के जीवन की संभावित विध्न–बाधाओं को दूर कर उसे उन्नत, परिष्कृत तथा सुसंस्कृत बनाया जा सकता है। इस निमित्त देवताओं को प्रसन्न कर उनकी अनुकम्पा प्राप्त करने हेतु उनकी स्तुति, उपासना आदि का प्राविधान किया गया, जिसका माध्यम यज्ञ ही था। प्रत्येक संस्कार को सम्पन्न करने हेतु एक निश्चित विधि तथा अवधि निर्धारित थी जिसके अनुसार पुरोहित इन्हें सम्पन्न कराते थे।

स्मृतिकारों ने पुरोहित को प्रशासनिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण पद प्रदान किया। पुरोहित को प्रशासन में एक मार्ग निर्देशक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। मनु तथा याज्ञवल्क्य ने यद्यपि राजा का पद दैवीय माना है परन्तु साथ ही शासन का उद्देश्य धर्म, अर्थ एवं काम की प्राप्ति में साधक होना भी माना। अतः राजा को यह निर्देश भी दिया कि मंत्रियों के परामर्श से इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु राजा को सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त मनु ने यह भी निर्देश दिया है कि राजा अपने मंत्रिया में से विद्वान धर्मादि गुणों से युक्त ब्राह्मण के साथ श्रेष्ठ मंत्र (गुप्त विचार) पर मंत्रणा करने के पश्चात निश्चयासनुसार कार्यवाही करें। यद्यपि मनु ने पुरोहित का यहां स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है किन्तु निःसन्देह इसका अभिप्राय उसी से ही रहा होगा। याज्ञवल्क्य ने तो स्पष्ट ही लिखा है कि ऐसे व्यक्ति को पुरोहित नियुक्त करना चाहिए जो ज्योतिष तथा अन्य शास्त्रों में प्रवीण होने के साथ–साथ दण्डनीति में भी कुशल हो[20]। पराशर

स्मृति में भी अन्य मंत्रियों के मध्य बुद्धिमान, पवित्र, धर्मज्ञ पुरोहित की नियुक्ति का उल्लेख मिलता है।

इतना महत्व पूर्ण पद प्राप्त होने पर पुरोहित अभिमानी, लोभी, पतित न हो जाय इस तथ्य को भी दृष्टिगत रखते हुए स्मृतिकारों ने पुरोहित की योग्यता पर विशेष ध्यान दिया। ब्राह्मण के जीवन को त्यागमय तथा तपोनिष्ठ बनाने के लिए स्मृतियों में पुरोहित के नित्य कर्मो का प्राविधान किया गया है। मनु ने लिखा है कि अग्निहोत्र यथेष्टि आदि कर्मो में समर्थ ब्राह्मण को ही पुरोहित नियुक्त करना चाहिए[21]। मनु ने ऐसे ब्राह्मणों की सूची दी है जिन्हें अपांक्तेय के रूप में संबोधित किया है। जिसका अभिप्राय यह था कि ऐसे ब्राह्मण को विद्वान तथा सदाचारी ब्राह्मणों की पंक्ति में बैठने का अधिकार नहीं था। गर्हित पेशा करने वाले ब्राह्मण को मनु ने शूद्र के समान बताया है। ये तथ्य इस बात के प्रमाण है कि इस काल में वर्ण व्यवस्था कर्म के स्थान पर जन्म पर आधारित हो गई तथा ब्राह्मण वर्ण में भी ऐसे लोग थे जो अन्य वर्णो के कार्य करके जीवन यापन करते थे। पतंजलि ने भी ब्राह्मण कुल में उत्पन्न लोगों के लिए जाति शब्द का प्रयोग किया है।

दक्षिणी भारत में भी सात वाहन वंशीय राजाओं के युग में यज्ञीय परम्परा का पुनरूद्धार हुआ। गौतमी पुत्र शात कर्णी ने दो अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किये। यद्यपि सात वाहन युग में ब्राह्मण तथा बौद्ध धर्म दोनों प्रचलित थे, लेकिन ब्राह्मण धर्म में नव–जीवन का संचार हुआ था। वैदिक काल के बहुत से देवताओं की पूजा इस युग में की जाने लगी। इन देवताओं में इन्द्र, वरूण, यम, चन्द्र, सूर्य आदि उल्लेखनीय हैं। वैदिक यज्ञों में अश्वमेध राजसूय अग्न्याधेय, अनारमणीय, आप्तोर्याम, दशातिरात्र, गर्गातिरात्र, गणमपन आदि यज्ञों का अनुष्ठान पुनः प्रारम्भ हो चुका था। इस युग में पौराणिक वैष्णव तथा शैव धर्म का भी विकास हुआ। जिससे पूजा–पाठ को बल मिला। इस प्रकार शुंग, काण्व और आन्ध्र–सातवाहन के युग को ब्राह्मण धर्म के पुनः विकास का युग कहा जा सकता है। गौतमी पुत्र शातकर्णी द्वारा समाज में वर्णाश्रम धर्म की स्थापना से पौरोहित्य कर्म पुनः प्रचलित हुआ तथा पुरोहितों को सम्मान दिया जाने लगा।

ब्राह्मण धर्म के इस पुनरूद्वार के युग में विदेशी जातियों यथा, शक, कुषाण आदि जातियों ने भारत पर आक्रमण किये तथा अपने राज्य स्थापित किये। चातुर्वर्ण्य में विश्वास रखने वाले धर्मावलंवियों के समक्ष इन विदेशी जातियों को समाहित करने की समस्या उत्पन्न हुई। गार्गी संहिता के युग पुराण में उल्लेख मिलता है कि इससे सामाजिक व्यवस्था छिन्न–भिन्न हो जायेगी तथा आर्य, अनार्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय का भेद लुप्त हो जायेगा[22]। किन्तु तत्कालीन आचार्यो ने मत व्यक्त किया कि वस्तुतः यूनानी शक, यवन, आदि क्षत्रिय जातियाँ हैं तथा ब्राह्मण का सम्पर्क न मिलने के कारण वृषलत्व को प्राप्त हुई। अतः इन

जातियों का शुद्धिकरण कर इन्हें सामाजिक व्यवस्था का अंग बना लिया गया। उल्लेखनीय है कि इस शुद्धिकरण प्रक्रिया का माध्यम याज्ञिक कर्मकाण्ड ही रहे होंगे, जिनमें पुरोहित वर्ग की प्रमुख भूमिका रही होगी। इन विदेशी शासकों ने अपनी मुद्राओं पर भारतीय भाषा तथा हिन्दू देवताओं को अंकित कर अपने भारतीयकरण का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। बेस नगर (विदिसा) से प्राप्त एक मिट्टी की मुहर पर अंकित लेख के अनुसार डिमिट्रियस ने वैदिक यज्ञ सम्पन्न कराया तथा यजमान बना[23]। कुषाणवंशीय शासकों में विमकडफिसेस की मुद्राओं पर शिव का अंकन मिलता है[24]। कनिष्क यद्यपि बौद्ध धर्मावलम्बी था किन्तु उसकी तथा हुविष्क की मुद्राओं पर हिन्दू धर्म के विभिन्न देवी देवताओं का अंकन मिलता है। कनिष्क ने यद्यपि बौद्ध धर्म के विकास तथा प्रसार में अत्यधिक योगदान दिया किन्तु उसके समय में हिन्दू धर्म, दर्शन आदि की उपेक्षा नहीं हुई। पं० भगवदत्त का कथन उल्लेखनीय है कि कुषाण वंशीय अंतिम राजा वासुदेव शैव मतावलम्बी था। उसके सिक्कों पर शिव व नंदी की मूर्तियाँ है। उसने पूर्णतया पौराणिक धर्म ग्रहण किया क्योंकि शुंगकाल से इस धर्म के प्रति लोगों में जो आस्था तथा उत्साह की धारा प्रवाहित हो रही थी उसे कनिष्क का बौद्ध धर्म रोकने में सफल नहीं हो सका[25]। इस प्रकार यवन, शक, पहल्व, कुषाण आदि विदेशी जातियाँ भारत भूमि पर विजेता होते हुए भी यहाँ की संस्कृति से पराजित हुई तथा तत्कालीन सामाजिक परिवेश तथा धार्मिक मान्यताओं के अनुरूप अपने को ढाल लिया।

कुषाणोत्तर भारत में अनेक गण राज्यों का विकास हुआ जिनमें यौधेय, भारशिव नाग और वाकाटक मुख्य थे। इन्होंने भी वैदिक संस्कृति को अपनाया। भारशिव नागों ने अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न कर वैदिक यज्ञ परम्परा का पालन किया। कुषाणों के पतन तथा गुप्तों के मध्य के समय में वाकाटक शासकों ने भी वैदिक परम्परा का अनुसरण करते हुए अश्वमेघ यज्ञ के चार बार अनुष्ठान किये। याज्ञिक अनुष्ठानों के आयोजन से आभास होता है कि इन राजवंशों में भी पौरोहित्य प्रथा का अस्तित्व था। शुंग काल में वैदिक धर्म के पुनरूद्धार की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी गुप्तवंशीय शासकों ने उसे स्थायित्व प्रदान किया। वस्तुतः देखा जाय तो राजनैतिक सुरक्षा, सामाजिक जीवन के उच्च नैतिक स्तर सांस्कृतिक चेतना आर्थिक समृद्धि से युक्त गुप्तकाल का धार्मिक जीवन भी अत्यन्त परिष्कृत था। गुप्तकालीन धार्मिक जीवन की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। अवतारवाद तथा भक्तिवाद। यद्यपि इस युग में भी शैव सम्प्रदाय शक्ति पूजा व बौद्ध धर्म तथा अन्य हिन्दू देवी देवताओं की पूजा समाज में प्रचलित थे किन्तु प्रमुखता वैष्णव धर्म की थी। कतिपय गुप्त नरेश विष्णु के उपासक थे। उनकी मुद्राओं पर परमभागवत की उपाधि तथा लक्ष्मी व गरूड़ के चित्र का अंकन इसका प्रमाण है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि ब्राह्मण धर्म की सर्वथा

उपेक्षा हुई। वस्तुतः गुप्त नरेशों ने इस धर्म को राज्याश्रय प्रदान कर लोकप्रिय बनाया तथा समय के अनुरूप इसका स्वरूप निर्धारित किया। इसकी लोकप्रियता का प्रमुख कारण तत्कालीन स्मृतिकारों तथा मीमांसा दर्शन के प्रतिपादकों द्वारा जनसाधारण में यह विश्वास उत्पन्न करना था कि वैदिक यज्ञ द्वारा मनुष्य को मुक्ति मिलती है। समुद्र गुप्त तथा कुमार गुप्त ने वैदिक अश्वमेध यज्ञों को सम्पन्न कर इस धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। यद्यपि अश्वमेघ यज्ञ राजनीतिक सर्वोच्च्य शक्ति का द्योतक है फिर भी वैदिक कालीन यज्ञीय परम्परा का ही अंग है। जिसे सम्पन्न करने में पुरोहितों की आवश्यकता थी। इस धर्म का प्रतिनिधित्व बलि देने के रूप में प्रचलित था।

वर्णव्यवस्था का जो स्वरूप पूर्वकालों में निर्धारित था वही गुप्तकाल में भी विद्यमान रहा। ब्राह्मण के लिए षट्कर्म निर्धारित थे। समाज में इनका वही आदर सम्मान था तथा लोग इनके आर्शीवाद प्राप्त करने हेतु उत्सुक रहते थे। यद्यपि स्मृतिकारों ने वर्ण व्यवस्था संबंधी कठोर नियमों का प्रतिपादन किया फिर भी एक वर्ण का व्यक्ति अन्य वर्ण के कार्य को अपना सकता था। वेदाध्ययन के स्वरूप के आधार पर ब्राह्मण वर्ण भी विभिन्न वर्गो में विभाजित होने लगे। समाज में वर्णाश्रम धर्म के पालन पर बल प्रदान करना राज्य का नैतिक कर्तव्य माना गया था। स्मृतिकारों ने यद्यपि चारों आश्रमों के पालन का निर्देश दिया फिर भी गृहस्थ आश्रम को अन्य आश्रमों की अपेक्षा अधिक महत्व प्रदान किया। वशिष्ठ का कथन है कि गृहस्थ ही यज्ञ करता है तथा अन्य सब आश्रमों के व्यक्तियों की रक्षा करता है[26]। पारिवारिक कल्याण तथा समृद्धि के लिए विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने का विधान था। गिरनार अभिलेख से विदित होता है कि समाज में धार्मिक सहिष्णुताओं तथा कोई भी व्यक्ति अधार्मिक, व्यसनी, आर्त, दरिद्र, दण्डय तथा पीड़ित नही था–

तस्मिन्नृपे शासित नैव कश्चित, धर्मादयेती मनुज प्रजास।
आर्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो न वा यो मृश पीड़ित स्यात।।

फाहियान ने भी लिखा है कि भारत के लोग आदर्श नागरिक थे तथा अतिथि का बड़ा सत्कार करते थे। वस्तुतः तत्कालीन समाज में नैतिक आचरण पर विशेष ध्यान दिया जाता था। समाज में लोगों में भूत प्रेत आदि अंधविश्वास भी व्याप्त थे। इसके अतिरिक्त गुरू पूजा पितृ पूजा, पवित्र नदियों में स्नानादि, दान, धार्मिक व्रत तथा तीर्थ यात्रा के प्रति लोगों में विश्वास बढ़ा। ये समस्त कर्मकाण्ड तत्कालीन समाज में पौरोहित्य प्रथा के महत्व के द्योतक हैं।

गुप्तकाल में भक्तिवाद का प्रमुख प्रभाव तत्कालीन धर्म पर पड़ा। वैदिक काल में तो उपास्य देव प्रायः अमूर्त ही रहे किन्तु कुषाण काल में बुद्ध की मूर्ति बनने के साथ–साथ ब्राह्मण धर्म में भी देवी देवताओं को मूर्त रूप देने की परम्परा का सूत्रपात हुआ। गुप्तकाल में तो विभिन्न देवी देवताओं की मूर्तियों को

देवालयों में स्थापित कर उनकी पूजा पद्धति का भी श्रीगणेश हुआ। इसके निमित्त मंदिरों में पुजारियों की नियुक्ति भी की जाने लगी। अतः पौरोहित्य कर्म करने वाले ब्राह्मणों के अतिरिक्ति अब पुजारी वर्ग भी अस्तित्व में आया। प्रशासनिक क्षेत्र में पुरोहित का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता। संभव है कि इस काल में पुरोहित वह सम्मान तथा प्रतिष्ठा अर्जित न कर सका हो जो उसे पूर्ववर्ती कालों में प्राप्त थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में पुरोहित केवल धार्मिक अनुष्ठानों तथा संस्कारों को सम्पन्न कराने तक सीमित रहा।

पूर्वमध्यकाल (600 ई० 1200 ई०) हर्षवर्द्धन के शासन काल को छोड़कर राजनीतिक अस्थिरता का काल था। यद्यपि गुप्तकाल के पतन के पश्चात् अनेक छोटे–छोटे राज्यों ने अपनी पृथक सत्ता स्थापित कर ली थी किन्तु हर्षवर्द्धन ने प्रारम्भिक कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करते हुए उत्तरी भारत को एक शासन सूत्र में बांधने में अधिकाशतः सफलता प्राप्त की। ब्राह्मण धर्म जो गुप्तकाल में पौराणिक धर्म के रूप में विकसित हुआ, हर्ष के शासन काल में पूर्ववत् विद्यमान रहा। समाज में परम्परागत चातुर्वर्ण्य व्यवस्था प्रचलित थी। जाति व्यवस्था अपनी जड़े जमा चुकी थी। अस्पृश्यता की भावना बढ़ गई थी। शूद्र पूर्व की भाँति ही दयनीय स्थिति में थे। उन्हें यज्ञ करना तथा वेदाध्ययन वर्जित था। समाज में ब्राह्मण सबसे अधिक सम्माननीय वर्ग था। इसका प्रमुख कारण धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न कराने में पारंगत होना तथा बौद्धिक स्तर पर श्रेष्ठ होना था। हर्ष स्वयं उच्चकोटि का विद्वान था। अतः उसका विद्वान ब्राह्मणों का सम्मान तथा उन्हें दान देना स्वाभाविक ही था। महाकवि वाण के अनुसार चातुर्वर्ण्य व्यवस्था जन्म पर आधारित थी। अतः ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से ब्राह्मण, असंस्कृत (अयोग्य) होने पर भी सम्माननीय था। हर्षवर्द्धन के एक ताम्र पत्र में इसे "वर्णाश्रमव्यवस्थापन प्रवृत चक्र" अर्थात वर्ण एवं आश्रम धर्म का पालन करने वाला कहा है[27]। यह इस तथ्य का द्योतक है कि इस काल में भी आश्रम व्यवस्था विद्यमान थी। अतः लोग विभिन्न आश्रमों में सम्पन्न किये जाने वाले धार्मिक अनुष्ठान तथा यज्ञों का संपादन अवश्य ही करते रहे होंगे जिसके लिए उन्हें पुरोहित वर्ग पर ही आश्रित रहना पड़ता होगा।

भारतीय इतिहास में बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार हेतु हर्ष को अशोक तथा कनिष्क के समान ही महत्व दिया गया है। किन्तु कतिपय साक्ष्य यह सिद्ध करते हैं कि प्रारम्भ में वह ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था। बांसखेड़ा तथा मधुवन के अभिलेखों में उसके नाम के आगे "परममाहेश्वर" विरुद्ध का प्रयोग मिलता है जो शैव धर्म के अनुयायी होने का द्योतक है। यह संभव हो सकता है क्योंकि उसका पिता प्रभाकर वर्द्धन सूर्य उपासक था। हर्ष चरित में एक स्थल पर हर्ष वर्द्धन को शिव की उपासना करते हुए बताया गया है[28]। प्रयाग में जब उसने वृहद धार्मिक आयोजन किया तब उसने बौद्ध देवी देवताओं के साथ–साथ शिव

तथा सूर्य की भी पूजा की। अतः स्पष्ट है वह प्रारम्भ में शिव का उपासक रहा होगा तथा बाद में ह्वेनसांग के सम्पर्क में आने पर बौद्ध धर्म के प्रति आकर्षित हुआ होगा। फिर भी इतना स्पष्ट है उसने पौराणिक धर्म को बौद्ध धर्म के समान ही सम्मान दिया। इसका प्रमाण हर्ष वर्द्धन द्वारा आयोजित कन्नौज की महासभा में बौद्ध धर्म के अनुयायियों के अतिरिक्त अन्य धर्मो के प्रतिनिधियों को भी आमंत्रित किया जाना है। यद्यपि इस महासभा का प्रमुख उद्देश्य बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रचार तथा उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालना था। फिर भी इस महासभा में ब्राह्मण धर्म के प्रतिनिधि भी उपस्थित थे। महासभा का अधिवेशन बुद्ध की मूर्ति के जलूस से प्रारम्भ हुआ जिसमें मन्त्रीगण तथा पुरोहित भी सम्मिलित हुए। अधिवेशन की अध्यक्षता ह्वेनसांग ने की, जिससे असंतुष्ट होकर ब्राह्मणों ने अपनी प्रतिक्रिया भी व्यक्त की थी। ब्राह्मणों का यह कार्य बौद्ध धर्म की बढ़ती लोकप्रियता के विरूद्ध स्पर्धा की भावना का द्योतक है। इसी प्रकार प्रयाग की छठी सभा में हर्ष ने बुद्ध के अतिरिक्त सूर्य तथा शिव की मूर्तियों की भी प्रतिष्ठा की, तथा बौद्ध अनुयायियों के साथ–साथ ब्राह्मणों को भी प्रचुर दान दक्षिणा दी। इससे स्पष्ट है कि हर्ष के शासन काल में ब्राह्मण एवं पौराणिक धर्म उपेक्षित न था। प्रयाग मथुरा, वाराणसी ब्राह्मण धर्म के प्रमुख केन्द्र थे, जहां मन्दिरों में विभिन्न देवी–देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित कर उनकी पूजा की जाती थी। वाराणसी शैव सम्प्रदाय के केन्द्र के रूप में विख्यात था। इन मंदिरों में पूजा पाठ के निमित पुरोहित–पुजारी नियुक्त होते थे। मन्दिरों में धार्मिक विषयों पर व्याख्यान आदि भी आयोजित होते थे ताकि जनसाधारण को आकर्षित किया जा सके। ऐसे अवसरों पर पुरोहित ही उपदेश देते रहे होंगे क्योंकि यही एक वर्ग ऐसा था जो धार्मिक विषयों का विशेषज्ञ था। थानेश्वर नगर का उल्लेख करते हुए वाण ने लिखा है कि उसकी दशों दिशायें यज्ञ की सहस्त्रों ज्वालाओं से देदीप्यामान रहती थी। यह कथन इसका प्रमाण है कि वैदिक यज्ञों की ज्वाला इस काल में भी प्रज्जवलित थी। तथा पुरोहित की स्थिति पूर्ववत रही होगी।

हर्ष वर्द्धन की मृत्यु के पश्चात भारत की राजनीतिक एकता पुनः छिन्न–भिन्न हो गई। उसके विस्तृत साम्रज्य के स्थान पर छोटे–छोटे राजवंशों ने अपने राज्य स्थापित कर लिए। इस समय उत्तर–भारत में कन्नौज मगध तथा कश्मीर शक्तिशाली राज्य थे। हर्षवर्द्धन के पश्चात यशों वर्मा ने कन्नौज में सुदृढ़ राज्य की स्थापना की। आयुध वंश के शासन काल में गुर्जर प्रतिहार, पाल वंश तथा राष्ट्रकूटों में कन्नौज पर अधिपत्य स्थापित करने हेतु संघर्ष चलता रहा। अंततः प्रतिहार शासक नागभट्ट ने आयुद्धवंश के चक्रायुद्ध को परास्त कर कन्नौज में प्रतिहार वंश ने राज्य की स्थापना की। कालान्तर में जिन राजवंशों ने उत्तरी भारत में शासन किया उनमें गहड़वाल, चंदेल, चाहमान, परमार, कलचुरिय तथा दक्षिण भारत में चालुक्य चोल आदि राजवंश उल्लेखनीय है।

यद्यपि पूर्वमध्काल राजनैतिक दृष्टिकोण से अस्थिरता का युग था किन्तु सांस्कृतिक जीवन का स्वरूप पूर्व की भांति ही रहा। इस काल के समाज में संकीर्णता आ गई थी। वर्ण तथा जाति पर्यायवाची शब्द बन गये थे। यद्यपि ब्राह्मण का समाज में अब भी सर्वोच्च स्थान था, किन्तु शाख तथा गोत्र के आधार पर उनमें भी भेद हो गये थे। जन्म के आधार पर ब्राह्मण वर्ग भी अनेक जातियो, उप–जातियों में विभाजित हो गया था जैसे द्विवेदी, चतुर्वेदी, त्रिवेदी, मिश्र, दीक्षित। ब्राह्मण के ज्ञान तथा सच्चरित्रता के कारण समाज में उनकी अत्यधिक प्रतिष्ठा थी। प्रायः मंत्री आदि पदों पर उनकी नियुक्ति का आधार उनकी बौद्धिक सर्वोच्चता ही थी। समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था के पालन पर बल दिया जाता था। तत्कालीन स्मृतिकार यह भली–भाँति जानते थे कि नवीन परिस्थितियों में प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था पूर्ववत् नहीं चल सकती। अतः उन्होंने सामाजिक नियमों को लचीला बनाने का प्रयास किया। गुप्तकाल के अंतिम चरण में जिन हूणों ने गुप्त साम्रज्य को क्षति पहुंचाई थी वे भारतीय समाज में घुल मिल गई। केवल सिंध में रहने वाले अरब जाति को उसकी सर्वथा भिन्न संस्कृति होने के कारण भारतीय समाज से पृथक रखा गया। जिन हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनाया गया उनको पुरोहितों ने पुनः शुद्धिकरण कर भारतीय समाज का अंग बना लिया। अल्बरूनी ने ब्राह्मण के जीवन को चार भागों में विभाजित किया है जो वस्तुतः चार आश्रमों का ही द्योतक है। यद्यपि ब्राह्मणों को परम्परागत कार्यो के अतिरिक्त व्यवसाय चुनने की स्वतंत्रता थी परन्तु कुछ वैदिक बंधन भी थे। मनुष्य के दैनिक जीवन में संस्कारों को सम्पन्न कराने की आवश्यकता पर भी बल दिया जाता था। व्यास स्मृति में तथा दशकुमार चरित में विभिन्न संस्कारों का उल्लेख मिलता है।

सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने हेतु तथा जीवन में मानव के मार्ग निर्देशन हेतु नीतिशास्त्रों का उल्लेखनीय योगदान रहा है। इन ग्रन्थों में कांमदकीय नीतिसार, शुक्रनीतिसार, सोमदेव का नीति वाक्यामृतम हेमचन्द्र का लध्वरः नीति तथा लक्ष्मीधर का राजनीति–कल्पतरू नामक ग्रन्थ उल्लेखनीय है। राजनीति परक होने के साथ–साथ इन ग्रन्थों में सामाजिक तथा धार्मिक मान्यताओं, विश्वास आदि व्यवस्था बनाये रखने हेतु आचरण संबंधी नियमों का भी प्रतिपादन किया गया है। नीतिशास्त्रकारों ने प्रजा का सर्वांगीण विकास तथा उसे धर्म अर्थ काम की प्राप्ति में सहयोग प्रदान करना राज्य का प्रमुख ध्येय निर्धारित किया। प्रशासनिक कार्यों में पुरोहित, मंत्रियों आदि से परामर्श करना आवश्यक बताया गया साथ ही इनकी नियुक्ति में योग्यता पर बल देते हुए निर्देश दिया कि त्रयी विद्या के ज्ञाता कुलीन, दण्डनीति में कुशल ब्राह्मण को नियुक्त करना चाहिए। प्रायः सभी नीति–शास्त्रकारों ने वर्णाश्रम धर्म पालन पर बल दिया है। कामंदक के अनुसार समाज में वर्णाश्रम धर्म को प्रतिष्ठित करना

था यज्ञादि सम्पन्न करने, वेदाध्ययन को प्रोत्साहन देना राजा का प्रमुख ध्येय ना चाहिए[29]। शुक्र ने वर्णो के विभाजन में जन्म के स्थान पर गुण व कार्य को ान्यता दी है[30]। सोमदेव सूरी ने भी श्रुतियों, स्मृतियों को स्वीकार कर वर्ण व्यवस्था को मान्यता प्रदान करते हुए लोगों को अपनी परम्परागत प्रथाओं तथा व्यवहारों के पालन करने पर बलदिया। इस प्रकार नीतिशास्त्रकारों ने प्राचीन सामाजिक मान्यताओं को पुनः स्थापित करने का अथक प्रयास किया। उत्तर भारत की ही भाँति दक्षिण तथा सुदूर दक्षिण भारतीय राजवंशों ने वर्णाश्रम धर्म को मान्यता दी। राष्ट्रकूट राजवंश में समाज के सात वर्ग थे यथा सत्क्षत्रिय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल, लहूड़। राजा तथा राजवंश से संबंधित लोग सत्क्षत्रिय वर्ग में आते थे तथा ब्राह्मण से श्रेष्ठ माने जाते थे। समाज में विभिन्न संस्कार प्रचलित थे तथा इन अवसरों पर पर्याप्त आमोद प्रमोद तथा प्रीतिभोज आदि आयोजित होते थे। मंदिर केवल पूजास्थल ही नहीं थे वरन उनमें धार्मिक उपदेश हेतु सत्संग भी आयोजित होते थे, ताकि जनता को नैतिक शिक्षा दी जा सकें। मंदिरों में पाठशालायें तथा चिकित्सालय भी होते थे। यहां सार्वजनिक समस्याओं पर विचार विमर्श भी होता था। विद्वान ब्राह्मण वेद, दर्शन, व्याकरण, निरूक्त, छन्दशास्त्र ज्योतिष आदि की शिक्षा देते थे। ब्राह्मण सम्मानीय थे। कुछ स्थानों पर इनकी संगठित संस्थायें थी जैसे कांची की घटिका। चोलों के शासनकाल में ब्राह्मणों ने अपनी अलग बस्ती बसानी प्रारम्भ कर दी थी। इस प्रकार समाज में दैनिक कार्यक्रमों में ब्राह्मण पुरोहित की प्रमुख भूमिका रहती थी।

प्रशासनिक क्षेत्र में भी इस युग में पुरोहित का महत्वपूर्ण स्थान था। यद्यपि गुप्त–काल तथा हर्ष वर्द्धन के शासन काल में पुरोहित की प्रशासकीय महत्ता के विशेष उल्लेख नहीं मिलते किन्तु उत्तरवर्ती काल में प्रायः सभी प्रमुख राजवंशों में पुरोहित का स्थान मंत्री–परिषद में विद्यमान रहा। प्रतिहारवंश के अभिलेखों में वर्णित अधिकारियों की सूची में पुरोहित का उल्लेख मिलता है जिसका प्रमुख कार्य धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न करना तथा राजा को परामर्श देना था[31]। राज्य में ब्राह्मण छोटे से लेकर बड़े पदों पर कार्यरत थे। गहड़वाल, चंदेल, चाहमान आदि सभी राजवंशों की अधिकारियों की सूची में पुरोहित का उल्लेख है। चाहमान वंश के अधिकारियों में पौराणिक नामक अधिकारी निःसन्देह पुरोहित का ही स्वरूप था क्योंकि इसका कार्य धार्मिक यज्ञादि सम्पन्न कराना था। उत्तर भारत की ही भांति दक्षिण भारतीय राजवंशों की अधिकारियों की सूची में भी पुरोहित का उल्लेख मिलता है। यद्यपि समस्त प्रशासनिक अधिकार राजा में ही निहित थे। किन्तु राजकार्य के विधिवत संचालन हेतु मंत्रियों की नियुक्ति की जाती थी। राजा राज गुरू से भी सांसारिक तथा धार्मिक विषयों में परामर्श लेने के अतिरिक्त समस्याओं पर भी परामर्श लेते प्रतीत होते हैं। राज गुरू निःसन्देह पुरोहित ही रहे होंगे।

प्रायः सभी नीति शास्त्रकारों यथा—कामंदक, शुक्र सोमदेव सूरी ने राजा के लिए प्रशासनिक कार्यो में पुरोहित से परामर्श करना आवश्यक बताया है। कामंदक ने अमत्यों में मंत्री व पुरोहित की गणना करते हुए कहा है कि राजा को मंत्री अमात्य, युवराज तथा पुरोहित का भेद यत्नपूर्वक करना चाहिए क्योंकि ये राज्य के प्रमुख अंग होते है[32]। कामंदक के अनुसार जो राजा चारों वर्णो तथा आश्रमों एवं धर्म को राज्य में प्रतिष्ठित करता है उसी राजा को त्रिवर्ग प्राप्त होता है। इसके लिए कामंदक ने राजा को पुरोहित का निर्देश प्राप्त करना आवश्यक बताया, क्योंकि पुरोहित अपने मंत्रानुष्ठानों द्वारा अनिष्टकारक शक्तियों के प्रभाव को नष्ट करने में सक्षम होता है। शुक्र ने तो राजा की दस प्रकृतियों में से पुरोहित को एक माना है। उनका मत था कि इनमें पुरोहित सर्वश्रेष्ठ होता है क्योंकि वह राजा तथा राष्ट्र दोनों का पालक होता है[33]। पुरोहित की सम्मति के बिना राज्य का नाश हो जाता हे। उसके कोप के डर से राजा भी धर्मानुकूल आचरण करते थे। प्रशासनिक कार्यो में पुरोहित की महत्ता इस तथ्य से प्रमाणिक हो जाती है कि विचारणीय विषय पर सम्बन्धित विभाग के अध्यक्ष, सचिव, मंत्री आदि द्वारा मत व्यक्त करने के पश्चात पुरोहित द्वारा अनुमोदित अपनी सहमति प्रकट करने पर ही राजा के समक्ष हस्ताक्षर हेतु प्रस्तुत किया जाता था[34]। सोमदेव सूरी ने भी पुरोहित को मंत्रीपषिद का अंग मानते हुए कहा है कि राजा को पांच—सात ब्राह्मण मंत्रियों से परामर्श करना चाहिए।

भारतीय संस्कृति की यह विशेषता रही है कि किसी धर्म को जनता के ऊपर थोपा नहीं गया। इस बात पर कभी बल नहीं दिया गया कि सभी व्यक्ति एक ही धर्म माने। पूर्व मध्यकाल में भी यही स्थिति रही अर्थात लोगों को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता थी। इस युग के धार्मिक जीवन की दो उल्लेखनीय विशेषतायें थी यथा पौराणिक हिन्दू धर्म का लोकप्रिय होना तथा सभी सम्प्रदायों में तांत्रिक विचारधारा का अत्यधिक प्रभाव। बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म इस युग में पतनोन्मुख हो चुके थे। इस काल में शैव तथा वैष्णव सम्प्रदायों की अत्यधिक उन्नति हुई। शैव धर्म में पाशुपत तथा कापालिक सम्प्रदाय भोगवादी धारणा को लेकर चले, तन्त्र मंत्र तथा सिद्धियों को खोजने लगे आनन्द भैरवी, महाकाली आदि देवियों की उपासना करते हुए वाममार्गी हो गये। मछली मांस मदिरा मैथुन आदि का सेवन सिद्धी प्राप्त करने के लिए आवश्यक माना गया। इस प्रकार वैष्णव धर्म भी आडम्बर पूर्ण हो गया जनसाधारण में विश्वास था कि विष्णु देवता पुण्यात्माओं को पुरस्कृत करने तथा दुष्टों को दण्ड देने हेतु पृथ्वी पर स्वयं अवतार लेते रहे है। अतः सगुण उपासकों के विविध सम्प्रदायों ने विष्णु के विभिन्न अवतारों को अपना उपास्य देव बना कर मुक्ति प्राप्त करने का प्रयास किया। इस अवतारवाद की भावना ने जहाँ एक ओर समाज में धार्मिक रक्षा का विश्वास उत्पन्न किया वहीं भक्ति को व्यापकता तथा प्रतिष्ठा प्रदान की। परिणाम स्वरूप मूर्ति पूजा

तथा मंदिरों का महत्व बढ़ा। तत्कालीन राजपूत राजवंशों ने विशाल मंदिरों का निर्माण कराकर उनमें विभिन्न अलंकरणों तथा प्रतीकों से युक्त अपने उपास्य देवों की मर्तियां प्रतिष्ठित की। दक्षिण भारतीय राज्यों में भी सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में मूर्ति पूजा तथा मंदिरों का महत्वपूर्ण स्थान हो गया। किन्तु साथ ही सामंतों की विलासितापूर्ण प्रवृति के कारण मदिरों में भी भजन कीर्तन के साथ–साथ नृत्य प्रारम्भं हो गया। जिसका परिणाम देवदासी परंपरा का सूत्रपात होना था। इससे अनाचार की प्रवृति को बढ़ावा मिला। ब्राह्मण पुजारी तथा पुरोहित भी इस अनाचार से अपने को मुक्त न रख सके।

ऐसे संक्रमण काल में भारतीय धर्म तथा दर्शन के रंगमंच पर प्रभाकर, कुमारिल भट्ट तथा शंकराचार्य का उदय हुआ। मीमांसा दर्शन के समर्थक प्रभाकर तथा कुमारिल भट्ट बौद्ध तथा उपनिषदों के सिद्धान्तों के विरूद्ध थे। उनका मत था कि वैदिक यज्ञ तथा कर्मकाण्ड से ही व्यक्ति को मुक्ति मिल सकती है। यद्यपि कतिपय प्रतिहार तथा चंदेल वंश–नरेशों ने वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान कराया परन्तु उन्हें आधिक लोक प्रियता न मिल सकी। शंकर कर्मकाण्ड का विरोधी था। परम्परागत हिन्दू धर्म से अपने सिद्धान्तों का समन्वय स्थापित कर हिन्दू धर्म में नव–जीवन के संचार करते हुए तांत्रिकों द्वारा प्रचारित अनैतिकता समाप्त करने का प्रयास किया। किन्तु वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यो के प्रबल विरोध से उनके अद्वैत सिद्धांत अधिक प्रभावी न हो सके तथा भक्ति मार्ग अधिक लोकप्रिय हो गया। इस काल में जनसाधारण में यह विश्वास भी बन गया था कि तीर्थ यात्रा करने से मनुष्य कर्म बंधन स मुक्त हो जाता है। उत्तर भारत के तीर्थों में गया, वाराणसी, हरिद्वार, पुष्कर, बद्रीनाथ, प्रयाग, उज्जैन, कुरूक्षेत्र प्रसिद्ध थे। इन तीर्थों पर विशिष्ट तिथियों पर धार्मिक पर्व आयोजित किये जाते थे, तथा पुरोहितों द्वारा विधि विधान पूर्वक धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न किये जाते थे। इस प्रकार भक्ति की भावना से समन्वित इस धर्म ने जन–साधारण को अपनी ओर आकृष्ट किया तथा अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। डा० लल्लन जी ग़ोपाल का मत है कि धार्मिक उत्सव, दान, व्रत, तीर्थयात्रा, मूर्तिपूजा, मंदिर, नक्षत्र पूजा इस धर्म के प्रधान अंग थे। जो जनसाधारण में इसकी लोकप्रियता के कारण थे। इन सब के द्वारा ही धर्म को व्यवहारिक और लोकप्रिय रूप मिला। पौराणिक धर्म की लोकप्रियता का सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि अरबों तथा मुस्लिम आक्रमणकारियों के समय यद्यपि राजनीतिक शक्ति छिन्न–भिन्न हो गई किन्तु इसके प्रवाह में कोई गतिरोध नहीं आया। यहां तक कि विदेशी भी यहां की संस्कृति से प्रभावित हुये बिना नहीं रह सके।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही धर्म भारतीय जीवन का मूल आधार रहा है। व्यक्ति का सामाजिक जीवन, उसकी दिनचर्या, उसका आचार–विचार सभी कुछ धर्म से ही अनुप्राणित था। दूसरे शब्दों में कहा जा

सकता है कि भारतीय संस्कृति धर्मप्रधान है। धर्म का मूल वेदों में निहित है। वैदिक काल से लेकर पूर्वमध्यकाल तक याज्ञिक कर्मकाण्डों की जटिलता, समाज में वर्णाश्रम धर्म तथा संस्कारों के पालन की अनिवार्यता के कारण पौरोहित्य प्रथा की जड़ें और भी गहरी हो गई। वस्तुतः पुरोहित का प्रभाव उसका तप तथा मंत्र थे। बहुत समय तक वह प्रजा के हितों का रक्षक बना रहा। शुक्रनीति में पुरोहित को स्पष्ट रूप में प्रजा तथा राष्ट्र का रक्षक बताया गया है। यद्यपि तत्वज्ञान चिंतन, कर्मवाद एवं दार्शनिक विचारधाराओं तथा विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों ने समय–समय पर कर्मकाण्डीय धार्मिक अनुष्ठानों पर आघात किया, जिससे पौरोहित्य प्रथा कुछ सीमा तक प्रभावित भी हुई, किन्तु उसका समूल उन्मूलन करने में समर्थ न हो सके।

संदर्भ सूची

1. एन एन ला — आसपेक्ट आफ ऐशियेन्ट इण्डियन पालिटी पृ० 42-43
2. वी आर आर दीधितार — हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्सटिट्यूशन, पृ० 116
3. ईश्वरी प्रसाद — प्राचीन भारतीय संस्कृति कला, धर्म एवं राजनीति, पृ० 35
4. ऋ० वेद — 10/1/3
5. पंचविंश ब्राह्मण — 1/8/41
6. राधा कुमुद मुखर्जी — प्राचीन भारत पृ० 20
7. डा० सत्यकेतु — प्राचीन भारत पृ० 96
8. ऋग्वेद — 1/1/1
9. तै० ब्रा० 1, 2, 6
10. अर्थर्ववेद — 18/2/4, 6/120/2-3, 12/3/17
11. छान्दोग्य उप० — 5/3/6, 5/11/5
12. महाभारत 1-28-3 अवध्य सर्व भूतानां ब्राह्मणाध्यन लोपम :
13. महाभारत 12-36-41 काष्ठैराद्रैर्यथा ———— प्रति ग्रही।
14. महाभारत 13-33-12-14
15. महाभारत शान्ति पर्व–अध्याय 73, श्लोक 1-2 अध्याय 74 श्लोक।
16. मिलिन्दपन्हो — 4/5/25-26
17. दीर्ध निकाय — 3/1/24
18. कौ० अर्थ० 3,5, 1,10
19. मनु–स्मृति — अ० 3/77
20. याज्ञ स्मृति — अ० 13/314

21. मनु स्मृति — अ० 13/श्लोक
22. ज० आफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी — 1930 पृ० 18
23. हरिदन्त वेदालंकार — प्राचीन भा० का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास (श० ई० पू० 300 ई०) पृष्ट 600
24. टार्न — ग्रीक्स इन बैक्ट्रेया एण्ड इण्डिया — पृ० 402
25. पं० भगवदत्त — भारत वर्ष का इतिहास — प्रथम भाग—पृ० 68
26. वशिष्ठ स्मृति — अ० 8/14-16
27. सत्यकेतु विद्यालंकार — प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन — पृ० 183
28. हर्ष चरित — पृ० 709
29. कामंदक नीतिसार — सर्ग 2 श्लोक 10/6 सर्ग 4 श्लोक 12,25-26
30. शुक्रनीतिसार अ० 1 श्लोक 38
31. इण्डियन ए० भाग 16 पृ० 177
32. कामंदकीय नीतिसार — अ० 17/25
33. पुरोधा प्रथम श्रेष्ठ सर्वेम्यो राजंरार्ष्टभृता शु० नी० अ० 2/74
34. वही श्लोक 355-63
35. लल्लन जी गोपाल—भारतीय संस्कृति पृ० 69

संदर्भ ग्रन्थ सूची

(I) प्रमुख ग्रन्थ

1. अग्नि पुराण : आनन्दश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1900
2. अथर्ववेद : सं० श्रीपाद शर्मा औघ नगर, 1938
3. अष्टाध्यायी : निर्णय सागर प्रेस, 1929
4. आपस्तम्ब गृह सूत्र : हरिदत्त मिश्रा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी
5. आपस्तम्ब धर्मसूत्र : हरिदत्त मिश्रा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी। 1977
6. आश्वलायन गृहसूत्र : नारायण की टीका सहित निर्णय सागर प्रेस बम्बई, 1894
7. आश्वलायन श्रौत सूत्र : बिव्लियोथिका इण्डिका, 1879
8. उपनिषद : छान्दोग्य उपनिषद, कठ उपनिषद, तैत्तिरीय उपनिषद, गीता प्रेस, गोरखपुर।
9. ऐतरेय आरण्यक : सं० कीथ, आक्फोर्ड, 1909
10. ऐतरेय ब्राह्मण : सं० डा० सुधाकर वाराणसी, 1980
11. ऋग्वेद : वैदिक संशोधन मण्डल पूना, 1933-51
12. कर्पूरी मंजरी : राजशेखर, कलकत्त,I 1948
13. कल्पसूत्र : कुन्दन विश्वेश्वरानन्द–वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर पंजाब, 1981
14. कात्यायन स्मृति : सं० नारायणचन्द्र बंधोपध्याय कलकत्ता, 1971
15. कत्यायन श्रौत सूत्र : अच्युत ग्रन्थ माला काशी प्रथम सं० 1987 वि०
16. कामन्दक नीति : सं० आर० मित्र बिब्लोथिका इण्डिका 1884
17. कामसूत्र–वात्साययन : चौखम्बा सीरीज वाराणसी
18. कौटिल्य अर्थशास्त्र : सं० आर० शाम शास्त्री मैसूर, 1909, 1928
19. गौतम धर्म सूत्र : हरिदत्त टीका सहिता आनन्दा श्रम संस्कृत सीरीज 1910
20. गौतम स्मृति : अष्टा दशः स्मृति खेमराज श्री कृष्ण, बम्बई सं० 1981

21. जातक : सं० पाउस बोल्ल 1877-97 हि० अ० श्रदन्त आनन्द कौसात्यायन।
22. तैत्तिरीय आरण्यक : आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, 1926
23. तैत्तिरीय ब्राह्मण : आर० शाम शास्त्री मैसूर, 1921
24. तैत्तिरीय संहिता : श्रीपाद शर्मा कलकत्ता, 1854
25. दीघ निकाय : हि० अ० राहुल सांकृत्यान सारनाथ वाराणसी, 1936
26. दीप वंश : सं० आल्डेन वर्ग लन्दन 1879
27. दयाश्रय काव्य : सं० पी० एल० वैद्य बम्बई, 1936
28. नारद स्मृति : सं० जोली कलकत्ता 1885
29. नवसाह सांक चरित्र : सं०वामन शास्त्री बम्बई 1895
30. पाराशर स्मृति : अष्टादश स्मृति, खेमराज श्री कृष्ण बम्बई सं० 1981
31. पारस्कर गृहसूत्र : श्री कर्कीपाध्याय–जय रामाचार्य हरिहराचार्य गदाधर दीक्षित सं० 1952
32. निरूक्त : पास्क–सं० बैजनरथ काशीनाथ राजवाडे, 1940
33. ब्रह्म पुराण : गायकवाड ओरियन्टल सीरीज बडोदा 1941
34. ब्राह्मण्ड पुराण : कलकत्ता सं० 2009
35. बौधायन धर्मसूत्र : आनन्द आश्रम संस्कृत सीरीज।
36. वृहदारण्यकोपनिषद : खण्ड 4 गीता प्रेस गोरखपुर सं० 1979
37. भोज : विश्वेश्वर नाथ रे इलाहाबाद 1932
38. मत्स्य पुराण : आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज पूना, 1907
39. मृच्छकटिकम् : शूद्रक कवि प्रणीतम्–चौखम्बा सुर भारती प्रकाशन प्रथम सं० वाराणसी 1985
40. मनुस्मृति : कुल्लूक भट्ट टीका सहित बम्बई, 1946, सं० राजवीर शास्त्री दिल्ली, 1981
41. महाभारत : नीलकण्ठ की टीका सहित पूना–1929-33, गीता प्रेस गोरखपुर।
42. महाभाष्य : पंतचलि सं० ए49 कीलहार्न
43. मालविकाग्निमित्र : कालीदास–बम्बई संस्कृत सीरीज, 1889
44. मिलिन्द पन्हो : बम्बई 1940
45. यजुर्वेद : दयानन्द संस्थान दिल्ली
46. याज्ञवल्क्य स्मृति : नारायणराव आचार्य काव्य तीर्थ पंचम् सं० निर्णय सागर प्रेस बम्बई 1949
47. राजतरंगिणी–कल्हण : एम० ए० स्टीन दो भाग वाराणसी 1961

48. रामायण : गीता प्रेस गोरखपुर
49. वायु पुराण : पूना, 1905
50. विज्ञानेश्वर : मिताक्षरा याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य बम्बई 1905
51. विनयपिटक : हि० अ० राहुल सांकृत्यायन सारनाथ, 1935
52. विष्णु धर्म सूत्र : चोखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, 1962
53. व्यास स्मृति : "अष्टादश स्मृति" खेमराज श्रीकृष्ण बम्बई 1981
54. शंख स्मृति : "अष्टादश स्मृति" खेमराज श्रीकृष्ण बम्बई 1981
55. शांख्यायन गृह सूत्र : सं० एस० आर० सहगल दिल्ली, 1960
56. शतपथ ब्राह्मण : अच्युत ग्रन्थ माला वाराणसी सं० 1994-97
57. शुक्रनीतिसार : व्याख्याकार– जगदीश्वरानन्द सरस्वती बहालगढ़ हरियाणा
58. हर्षचरित : वाणभट्ट अनुवाद कावेल और टामंस 1897

(II) अंग्रेजी ग्रन्थ

1. अल्तेकर, ए०एस० : स्टेट एण्ड गर्वनमेन्ट इण्डिया दिल्ली; 1958
2. इलियट : हिस्ट्री आफ इण्डिया 1958
3. ओल्डन वर्ग : बुद्धा (होव कृत अनु०) कलकत्ता 1927
4. कावेल : जातक प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ
5. कीथ, ए०वी० : कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया
   कीथ, ए०वी० : रिलिजन एण्ड फिलासफी आफ दि वेद एण्ड उपनिषद जिल्द-I
6. कीथ, एण्ड मेक्डानल : वैदिक इण्डेक्स प्रथम एवं द्वितीय लन्दन 1912 (हर्वर्ड 1925)
7. गोपालराय : इन्डिया आफ वैदिक कल्पसूत्र दिल्ली 1959
8. घुर्ये, जी०एस० : वैदिक इण्डिया बम्बई 1979
   कास्ट, क्लास एण्ड आकुपेशन बम्बई 1961
9. ?kks"k] ;w0,u0 % vyhZ fgLVª vkQ bf.M;k bykgkckn1948
10. जायसवाल, के०पी० : हिन्दु पालिटी कलकत्ता 1934
    टार्न डब्ल्यू० डब्ल्यू० दि ग्रीक्स इन वैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया के० पू० 1938
11. डेवीज़ रीज : दि डायलाग्स आफ दि बुद्धा आक्सफोर्ड यू० 1923
12. दत्त, एन० : हिस्ट्री आफ दि स्प्रेड आफ बुद्धिज्म एण्ड बुद्धिस्ट स्कूल लन्दन 1925

13. दन्‌कर : ए हिस्ट्री आफ इण्डिया भाग प्रथम लन्दन 1949
14. दास, एस०सी० : ऋग्वैदिक इण्डिया कलकत्ता 1921
15. दिक्षितार वी०आर० : हिन्दू एण्ड एडमिनिस्ट्रेटिव इन्सटीटयूशन मद्रास, 1929
16. नेगी–जे०एस० : ग्राउन्ड वर्क्स आफ ऐन्शियन्ट इण्डिया, 1958
17. पाटिल, के०के० : कल्चरल हिस्ट्री फ्राम वायु पुराण पूना, 1946
18. प्रसाद, वेनी : स्टेट इन ऐशियन्ट इण्डिया इलाहाबाद, 1928
19. पुरी, बी० एम० : दि हिस्ट्री आफ गुर्जर–प्रतिहारज, बम्बई
20. फिक्, आर० : सोशल आर्गेनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इण्डिया इन बुद्धिस्ट टाइम्स, 1920
21. बोस, एन० के० : कल्चर एंड सोसायटी इन इंडिया बम्बई, 1967
22. ब्लूम फिल्ड एम० : (अनु० सूर्यकान्त) अथर्ववेद एण्ड गोपथ ब्राह्मण।
23. वेनरजी, जे०एन० : डवलपमेन्ट आफ हिन्दू आइक्नों ग्राफी कलकत्ता, 1941
24. भंडारकर, आर०डी० : अशोक कलकत्ता, 1925
25. भंडारकर, आर०डी० : वैश्पवठज्य, शैवइज्म एण्ड माइनर रिलीजियस सैक्टस
26. मजूमदार, आर०सी० : वैदिक एज, बम्बई, 1965
27. मजूमदार एण्ड अल्तेकर : दि वाकाटक गुप्ता एज 1946
28. मजूमदार, आर०सी० तथा पुसाबक्कर : दिक्लासिकल एज बम्बई 1953 इम्पीरियल कन्नौज स्ट्रगल फार एम्पायर
29. मुखर्जी, आर० के० : ऐन्शियन्ट इण्डिया इलाहाबाद, 1956
30. राय चौधरी, एच०सी० : दि पालिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशियेन्ट इण्डिया कलकत्ता, 1953
31. राधाकृष्ण : इण्डियन फिलॉसफी, 1956
32. रेप्सन ई०जी० : ऐंशियन्ट इण्डिया कैम्ब्रिज यू०, 1916
33. रे, एच०सी० : डाइनेस्टिक हिस्ट्री आफ इण्डिया भाग 1 व 2.
34. लां एन०एन० : स्टडीज इन ऐंशियन्ट हिन्दू पालिटी कलकत्ता, 1964
35. वैद्य, सी०वी० : हिस्ट्र आफ मेडिकल हिन्दू इंडिया, पूना, 1943
36. शर्मा, दशरथ : अर्ली चौहान डायनेस्टीज दिल्ली, 1956

37. शास्त्री, के०ए० नील कंठ : दि एज आफ दि नन्दाज एण्ड मौर्याज पटना, 1952
38. स्मिथ बी०ए० : अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया
39. हट्टन : कास्ट इन इण्डिया आ० फो० यू० 1981
40. त्रिपाठी आर०एस० : हिस्ट्री आफ कन्नौज। वनारस, 1936

(III) शोध परक लेख तथा जरनल्स

1. आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट
2. इण्डियन एन्टीक्वेरी खण्ड 58 बम्बई
3. इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटर्ली कलकत्ता, 1949
4. ऐशियेंट इण्डिया भाग 19,23
5. एपिग्रापिका इण्डिया भाग 20
6. कनिघंम–आर्केलाजिकल सर्वे रिपोर्ट भाग 10
7. जरनल आफ विहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी पटना, 1930
8. जरनल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता, 1882
9. जरनल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी लन्दन 1867 (ग्रेटब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड)
10. जरनल आफ इन्डियन हिस्ट्री, मद्रास, 1936
11. जायसवाल : जरनल आफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना 1953
12. पं० उदयवीर शास्त्री : वैदिक इन्दु वाराणसी, 1966
13. युधिष्ठिर मीमांसक : वेदवाणी–जनवरी, 1983

(IV) हिन्दी ग्रन्थ

1. अग्रवाल वासुदेव शरण : पाणिनी कालीन भारत वर्ष वाराणसी, 1969
2. आत्रेयी विश्वास : प्राचीन भारत का राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास दिल्ली, 1982
3. आचार्य प्रियव्रत : वेदों के राजनैतिक सिद्धान्त, दिल्ली, 1983
4. उपाध्याय वासुदेव : गुप्त साम्राज्य का इतिहास प्रथम भाग, द्वितीय भाग इलाहाबाद, 1952,1957
प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन पटना, 1961
5. उपाध्याय भगवत शरण : प्राचीन भारत का इतिहास पटना, 1949
6. ओम प्रकाश : प्राचीन भारत का इतिहास दिल्ली, 1971
7. काणे पी०वी० : धर्म शास्त्र का इतिहास प्रथम भाग अनु० अर्जुन चौवे काश्यप द्वितीय सं० लखनऊ

		धर्म शास्त्र का इति० द्वितीय भाग–तृतीय सं० लखनऊ, 1982
8. गोपाल श्रीराम	:	गुप्त कालीन अभिलेख प्रथम संस्करण मेरठ, 1984
		प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह प्रथम सं० जयपुर, 1982
9. घोष नगेन्द्र नाथ	:	भारत का प्राचीन इतिहास प्रयाग, 1951
10. दास गोपाल	:	सभ्यता का इतिहास, इलाहाबाद, 1963
11. नेहरू जवाहरलाल	:	हिन्दूस्तान की कहानी दिल्ली, 1947
12. पाण्डेय गोविन्दचन्द्र	:	बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास लखनऊ, 1963
13. पाण्डेय राजबली	:	प्राचीन भारत दिल्ली, 1949
		भारतीय इतिहास की भूमिका दिल्ली, 1949
		हिन्दू धर्म कोष लखनऊ, 1978
14. पाण्डेय विमल चन्द्र	:	भारत वर्ष का सामाजिक इतिहास इलाहाबाद, 1960
		प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास-1966
15. पाण्डेय श्यामलाल	:	भारतीय राजशास्त्र प्रणेता प्रथम संस्करण लखनऊ, 1964
16. प्रसाद ईश्वरी	:	प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म तथा दर्शन इलाहाबाद, 1980
17. प्रसाद बेनी	:	हिन्दुस्तान की प्राचीन सभ्यता प्रयाग, 1931
18. मजूमदार आर०सी० तथा अल्तेकर	:	भारतीय जन का इतिहास वाका० गुप्त युग प्रथम सं० पटना, 1968
19. मजूमदार आर०सी०	:	प्राचीन भारत मोतीलाल वनारसीदास दिल्ली, 1962
20. मुखर्जी राधा कुमुद	:	चन्द्र गुप्त मौर्य तथा उसका काल इलाहाबाद, 1962
		हिन्दू सभ्यता, दिल्ली, 1966
21. मिश्र जयशंकर	:	प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास पटना, 1974
22. भंडार आर०डी०	:	अशोक, लखनऊ, 1960
23. भगवदत्त	:	भारत वर्ष का इतिहास प्रथम भाग लाहोर, 1936
24. रामदेव	:	भारत वर्ष का इतिहास हरिद्वार, 1911

25. रामदेव तथा सत्यकेतु : भारत वर्ष का इतिहस तृतीय खण्ड
26. रोमिला थापर भारत का इतिहास दिल्ली, 1975
27. राधा कृष्ण : भारतीय दर्शन दिल्ली, 1969
28. विद्यालंकार जयचन्द्र : भारतीय इतिहास की रूप रेखा जिल्द-1-2 इलाहाबाद, 1933
29. विद्यालंकार सत्यकेतु : प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग दिल्ली, 1979
    पाटलीपुत्र की कथा इलाहाबाद, 1949
    भारत का प्राचीन इतिहास मसूरी, 1967
    मौर्य साम्रज्य का इतिहास इलाहाबाद, 1985
    प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजतन्त्र मसूरी, 1968
    प्राचीन भारत की शासन संस्थायें तथा राजनीतिक विचार दिल्ली, 1975
    भारतीय संस्कृति और इतिहास मसूरी, 1968
    प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन दिल्ली, 1985
30. वेदालंकार हरिदत्त : भारत का सांस्कृतिक इतिहास दिल्ली, 1962
    प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास (200 ई० पू० 300 ई०)
31. शर्मा रामशरण : पूर्व मध्य कालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन दिल्ली, 1975
32. शरण परमात्मा : प्राचीन भारत में राजनैतिक विचार एवं सं० मेरठ, 1967
33. शिवदत्त ज्ञानी वेद कालीन समाज–वाराणसी, 1967
34. शास्त्री नीलकण्ठ : नन्द मौर्य युगीन भारत प्रथम संस्करण, 1969
35. श्याम सुन्दर दास : हिन्दी शव्द सागर–वाराणसी, सं० पृथ्वीराज रासो, बनारस, 1913
36. सूर्यकान्त : वैदिक कोश वाराणसी, 1963
37. सच्चिदानन्द भट्टाचार्य : भारतीय इतिहास कोष, हिन्द्री समिति ग्रन्थमाला लखनऊ
38. ससुख्वसीरमेस्यारीन्वुप्ता : संस्कार विधि–बहालगढ़ हरियाणा, 1974
39. हरि मोहनलाल महन्तो वियोगी : जातक कालीन संस्कृति पटना, 1959
40. हम्मीर महा० : न्याय चन्द्र सूरी बम्बई, 1879